मथुरा का
सांस्कृतिक जैन पुरा वैभव

सम्पादन :

प्रो॰ रमेशचन्द शर्मा

पूर्व महानिदेशक, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली

पूर्व निदेशक, भारत कला भवन, वाराणसी

मानद निदेशक, ज्ञान प्रवाह, वाराणसी

एवं

डॉ॰ फूलचन्द जैन प्रेमी

अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक

प्राच्य श्रमण भारती

मुजफ्फरनगर

तीर्थंकर श्री 1008 भगवान् महावीर स्वामी के 2600वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रकाशित

(पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी महाराज के सान्निध्य में जैन भवन, केसरगंज, अजमेर में दिनांक 15 एवं 19 अक्टूबर 1999 को आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत एवं अन्य शोध निबन्धों का संकलन)

पुण्यार्जक : उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज चातुर्मास समिति, केसरगंज, अजमेर (राज.)

प्रथम संस्करण : वी.नि. सं. 2529 सन् 2003
1100 प्रतियाँ

मूल्य : 75/- रुपये मात्र

इस पुस्तक के विक्रय से जो भी राशि एकत्रित होगी उससे पुनः प्रकाशन होगा।

प्राप्ति स्थान :

- प्राच्य श्रमण भारती
  12/ए, निकट जैन मन्दिर
  प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर - 251001 (उ॰प्र॰)
  फोन : (0131) 2450228, 2408901
- श्रुत संवर्द्धन संस्थान
  प्रथम तल, 247, देहली रोड, मेरठ-2
  फोन : 0121-2527665 फैक्स : 2533707
- श्री दि. जैन तीर्थक्षेत्र "ज्ञानस्थली"
  निकट परतापुर रेलवे, क्रासिंग
  भूदबराल, मेरठ (उ० प्र०)
  फोन-0121-2440485, 0121-3119857
- संस्कृति संरक्षण संस्थान
  X/3349, गली न. 1
  रघुवरपुरा न. 2, शांति मौहल्ला गाँधी नगर, दिल्ली - 31
  फोन : 011-22465078

मुद्रक :

दीप प्रिंटर्स
70-ए रामा रोड इंडस्ट्रियल एरिया
नई दिल्ली-110015
फोन : 011-25925099, 30923335

आचार्य शान्ति, सूर्य, विजय, विमल, सुमति सागरेभ्यो नमः

आचार्य परम्परा

बाल ब्रह्मचारी, प्रशान्त मूर्ति आचार्य 108 श्री शान्तिसागर जी महाराज (छाणी) उत्तर

जन्म तिथि	–	कार्तिक वदी एकादशी वि॰सं॰ – 1945 (सन् 1888)
जन्म स्थान	–	ग्राम–छाणी, जिला – उदयपुर (राजस्थान)
जन्म नाम	–	श्री केवलदास जैन
पिता का नाम	–	श्री भागचन्द जैन
माता का नाम	–	श्रीमती माणिकबाई
क्षुल्लक दीक्षा	–	सन् 1922 (वि॰सं॰ 1979)
स्थान	–	गढ़ी, जिला–बासबाड़ा (राजस्थान)
मुनि दीक्षा	–	भाद्र शुक्ला 14 संवत् 1980 (सन् 1923)
स्थान	–	सागवाड़ा, जिला डूंगरपुर (राजस्थान)
आचार्य पद	–	सन् 1926
स्थान	–	गिरीडीह (झारखंड प्रान्त)
समाधिमरण	–	17 मई 1944 ज्येष्ठवदी दशमी
स्थान	–	सागवाड़ा (राजस्थान)

परम पूज्य आचार्य 108 श्री सूर्यसागर जी महाराज

जन्म तिथि	–	कार्तिक शुक्ला नवमी वि॰सं॰ 1940 (सन् 1883)
जन्म स्थान	–	प्रेमसर, जिला – ग्वालियर (म॰प्र॰)
जन्म नाम	–	श्री हजारीलाल जैन
पिता का नाम	–	श्री हीरालाल जैन
माता का नाम	–	श्रीमती गेंदाबाई
ऐलक दीक्षा	–	वि॰सं॰– 1981 (सन् 1924) (आ॰ शान्तिसागर जी से)
स्थान	–	इन्दौर (मध्य प्रदेश)
मुनि दीक्षा	–	मर्गासर, बदी ग्यारस वि.स. 1981 (सन् 1924) 51 दिन पश्चात् आचार्य शान्तिसागर जी (छाणी) से
स्थान	–	हाटपीपल्या, जिला – देवास (म.प्र.)
आचार्य पद	–	वि॰सं॰ 1985 (सन् 1928)
स्थान	–	कोडरमा (झारखण्ड)
समाधिमरण	–	वि॰सं॰ 2009 (14 जुलाई 1952)
स्थान	–	डालमिया नगर (झारखण्ड)
साहित्य क्षेत्र में	–	33 ग्रन्थों की रचना की।

परम पूज्य आचार्य 108 श्री विजयसागर जी महाराज

जन्म तिथि	–	वि॰ सं॰ 1938 माघ सुदी 8 गुरुवार
जन्म स्थान	–	सिरोली, जिला – ग्वालियर (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम	–	श्री चोखेलाल जैन
पिता का नाम	–	श्री मानिक चन्द जैन
माता का नाम	–	श्रीमती लक्ष्मी बाई
क्षुल्लक दीक्षा	–	इटावा (उत्तर प्रदेश)
ऐलक दीक्षा	–	मथुरा (उत्तर प्रदेश)
मुनि दीक्षा	–	मारोठ (जि. नागौर, राजस्थान) आचार्य श्री सूर्यसागर जी से
समाधि तिथि	–	20 दिसम्बर 1962
स्थान	–	मुरार, जिला – ग्वालियर (मध्य प्रदेश)

परम पूज्य आचार्य 108 श्री विमलसागर जी महाराज (भिण्ड वाले)

जन्म तिथि	-	पौष शुक्ला द्वितीया वि॰ सं॰ 1948 (सन् 1891)
जन्म स्थान	-	ग्राम मोहना, जिला - ग्वालियर (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम	-	श्री किशोरीलाल जैन
पिता का नाम	-	श्री भीकमचन्द जैन
माता का नाम	-	श्रीमती मथुरादेवी जैन
क्षुल्लक दीक्षा	-	वि॰ सं॰ 1998 (सन् 1941) आ॰ विजयसागर जी से
स्थान	-	ग्राम - पाटन, जिला - झालावाड़ (राजस्थान)
मुनि दीक्षा	-	वि॰ सं॰ 2000 - आ॰ विजयसागर जी से
स्थान	-	कोटा (राजस्थान)
आचार्य पद	-	सन् 1973, स्थान - हाड़ौती
समाधिमरण	-	13 अप्रैल 1973 (वि॰ सं॰ 2030)
स्थान	-	सागोद, जिला - कोटा (राजस्थान)

मासोपवासी, समाधिसम्राट परम पूज्य आचार्य 108 श्री सुमतिसागर जी महाराज

जन्मतिथि	-	वि॰ सं॰ 1974 आसोज शुक्ला चतुर्थी (सन् 1917)
जन्म स्थान	-	ग्राम - श्यामपुरा, जिला - मुरैना (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम	-	श्री नत्थीलाल जैन
पिता का नाम	-	श्री छिद्दूलाल जैन
माता का नाम	-	श्रीमती चिरौंजा देवी जैन
ऐलक दीक्षा	-	वि॰ सं॰ 2025 चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (सन् 1968)
स्थान	-	मुरैना (मध्य प्रदेश) आ॰ विमलसागर जी से
ऐलक नाम	-	श्री वीरसागर जी
मुनि दीक्षा	-	वि॰ सं॰ 2025 अगहन वदी द्वादशी (सन् 1968)
स्थान	-	गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)
आचार्य पद	-	ज्येष्ठ सुदी 5 वि॰सं॰ 2030, अप्रैल 13, सन् 1973
स्थान	-	मुरैना (म.प्र.) आ. विमलसागर जी (भिण्डवाले) महाराज से।
समाधिमरण	-	क्वार वदी 13 दि॰ 3 10.94
स्थान	-	सोनागिर सिद्धक्षेत्र, जिला दतिया (मध्य प्रदेश)

सराकोद्धारक परम पूज्य उपाध्याय 108 श्री ज्ञानसागर जी महाराज

जन्म तिथि	-	वैशाख शुक्ल द्वितीया, वि॰सं॰ 2014, मई 1, सन् 1957
जन्म स्थान	-	मुरैना (मध्य प्रदेश)
जन्म नाम	-	श्री उमेश कुमार जैन
पिता का नाम	-	श्री शांतिलाल जैन
माता का नाम	-	श्रीमती अशर्फी जैन
ब्रह्मचर्य व्रत	-	सन् 1974
क्षुल्लक दीक्षा	-	सोनागिर जी, 5 11 1976
क्षु दीक्षोपरान्त नाम	-	क्षु॰ श्री गुणसागर जी
क्षुल्लक दीक्षा गुरु	-	आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज
मुनि दीक्षा	-	सोनागिर जी, महावीर जयन्ती, चैत सुदी त्रयोदसी 31.3.1988
मुनि दीक्षोपरान्त नाम	-	मुनि श्री ज्ञानसागर जी
दीक्षा गुरु	-	आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज
उपाध्याय पद	-	सरधना, मेरठ (उ.प्र.) 30.1 1989

उपाध्याय मुनि श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज

जन्म तिथि :

2 मई, सन् 1957, मुरैना (म०प्र०)

मुनि दीक्षा :

31 मार्च, सन् 1988, सोनागिर, (म०प्र०)

दीक्षा गुरु :

समाधि सम्राट 108 आचार्य श्री सुमति सागर जी महार

उपाध्याय पद तिथि :

30 जनवरी, 1989, सरधना, (उ०प्र०)

समाजोत्थान के तीव्र अभीप्सु-परमपूज्य उपा. १०८ श्री ज्ञानसागरजी महाराज

जैन धर्म अध्यात्म प्रधान है। अध्यात्म का सम्बन्ध व्यक्ति से है। इसलिए जैन श्रमण अध्यात्म निष्ठ रहते हुए व्यक्तिगत कल्याण का लक्ष्य रखते हैं। उनका अध्यात्मिक जीवन समाज में बीतता है। सामाजिक और लौकिक समस्याएं उन्हें द्रवित करती हैं। करूणावश वे समाजोत्थान एवं गृहस्थ जनों के विकास के लिए तत्पर होते हैं। अध्यात्म-प्रधान रहते हुए भी समाज के लिए उनकी ये गतिविधियां जन-जन के विकास और कल्याण का निमित्त बनती हैं। ये प्रयत्न ही सामान्य जन को दृष्टि प्रदान करते हैं जिससे उनका ज्ञान और आचरण धीरे-धीरे सम्यक् होने लगता है।

अहर्निश ज्ञान के प्रति जिज्ञासा, अनुशासन प्रिय, सहजता एवं सरल-मना उपाध्याय ज्ञानसागर जी ने बारह वर्षों तक कठोर साधना एवं अध्ययन कर स्वयं का आध्यात्मिक विकास तो किया ही, इससे उद्‌भुत लोक कल्याण की चेतना भी उनमें सहज ही देखी जा सकती है। उनके अध्यात्म प्रधान विविध आयामी कार्यक्रम व्यक्ति और समाज के समेकित विकास का आधार बन रहे है। उनकी करूणा का अमिट उदाहरण सराकोत्थान के रूप में देखने को मिलता है। उदयगिरि-खण्डगिरि की यात्रा के पश्चात् उपाध्याय श्री ने एक ऐसे क्षेत्र में प्रवेश किया जहां लाखों सराक बन्धु रह रहे थे। तथा समय के थपेड़ों से वे जूझ रहे थे। देव-शास्त्र-गुरू समागम के अभाव में जैनत्व के संस्कारों से विस्मृत हुए सराक बन्धुओं के मध्य उनकी संस्कृति और उनकी धरोहर से परिचित कराने हेतु विषम परिस्थितियों के बावजूद उन लोगों के साथ धर्म की रक्षार्थ जंगलों में रहना स्वीकार किया। जनकल्याणार्थ मात्र उपदेश से प्रेरित करने की तुलना में किसी परिवार एवं जाति का सामाजिक एवं आर्थिक रूप से विकास करना आत्यधिक कठिन कार्य होता है। उपाध्याय श्री ने व्यापक

करूणा भाव से इस कठिन कार्य को अपने हाथ में लिया, सफलता असंदिग्ध ही थी।

अहर्निश ज्ञान-पिपासा विद्वानों को सहज ही उनकी ओर आकर्षित करती है। विद्वानों के सम्मान को उपाध्याय श्री, ज्ञान का सम्मान मानते हैं। तिलोयपण्णति एवं तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्याय कुमुदचन्द्र परिशीलन कुन्द-कुन्द भारती आदि विशालकाय ग्रंथों को प्रकाशित एवं प्रचारित करने के प्रयत्न आगम ज्ञान को प्रचारित करने एवं सूत्र रक्षा के प्रति उनकी अगाध निष्ठा के ही द्योतक हैं। उनकी प्रेरणा से आयोजित सम्मेलन, संगोष्ठियां एवं संवाद न केवल विद्वानों की दृष्टि को पैनी करती है अपितु श्रुत रक्षा एवं श्रुत सम्वर्द्धन की भी प्रेरणा देती है। इस दृष्टि से उपाध्याय श्री आत्म-आध्येता के साथ ग्रंथ अध्येता भी कहे जा सकते है। मुनि विरोध-आगम विरोध रूपी एकान्त विष से सावधान रहने तथा उसके समीचीन निरसन हेतु वे समाज के प्रबुद्ध जनों एवं विद्धानों को सदैव प्रेरित करते रहे हैं। समाज में व्याप्त कुरीतियों के निराकरण हेतु आपकी सामयिक एवं तात्कालिक प्रवचन पटुता अद्वितीय है। जिनेन्द्र देव द्वारा कथित पदार्थ स्वरूप को जानने एवं स्वीकार करने हेतु उनके व्याख्यान मील के पत्थर हैं।

जैन समाज के बुद्धिजीवियों यथा डॉक्टर, प्रोफेसर आदि को संगठित करने का महत् कार्य भी उपाध्याय श्री ने किया। इन बुद्धिजीवियों के जिला संगठनों के माध्यम से तनावमुक्ति, शाकाहार, धर्म एवं विज्ञान, चरित्र निर्माण में शिक्षा का योगदान, व्यसन मुक्ति आदि विषयों पर गोष्ठियां विशेष चर्चित रही हैं। वर्द्धमान बुद्धिजीवी फोरम के द्वारा शाकाहार के प्रति जागरूकता पैदा करने की दृष्टि से स्कूलों में विविध प्रतियोगिताएं, साप्ताहिक बैठकें एवं प्रतिभा सम्मान के कार्यक्रम उपाध्याय श्री की प्रेरणा से ही संपन्न हुए हैं। इस फोरम द्वारा ज्ञानदर्पण पत्रिका का प्रकाशन भी किया जा रहा है। साहित्यकारों की एक अन्य फोरम के द्वारा भी शाकाहार आदि जैनत्व के संस्कारों से संपूरित विषयों पर जिलास्तरीय प्रतियोगिताएं, मेधावी छात्रों का सम्मान आदि कार्यक्रम आयोजित होते रहे हैं। उपाध्याय श्री की

ज्ञान-प्रसार की पिपासा का यही अंतिम छोर नहीं है। ये मात्र पड़ाव है। शाकाहार के प्रचार-प्रसारार्थ बिहार में राज्यस्तरीय कार्य तथा प्रतिभा सम्मान कार्यक्रम आयोजित हुए। अजमेर (राजस्थान) में प्राचार्यों के सम्मेलन का सफल आयोजन हुआ जिसमें लगभग 150 प्राचार्यों ने भाग लिया। शिक्षा के प्रति जागरूकता को बढ़ाने तथा जैन परिवार के बच्चे प्रशासनिक सेवाओं तथा उच्च पदों पर पहुंचे, इसकी प्रेरणा के लिए आपने माता-पिता एवं अभिभावकों के सम्मेलन बुलाकर न केवल उन्हें जागरूक किया वरन् इसके लिए उन्हें प्रेरित भी किया है। शिक्षा संस्थानों को खोलने तथा विशेषकर महिला शिक्षण संस्थानों को प्रारंभ करने के लिए उपाध्याय श्री की प्रेरणा महिला विकास के प्रति उनकी सजगता को दर्शाती है। जैन समाज के व्यक्ति जो ऐसे संस्थान चलाते हैं उन्हें उपाध्याय श्री का मार्ग दर्शन एवं आशीर्वाद मिलता रहता है। तथा आपके आशीर्वाद से ऐसी कई संस्थाएं सफलतापूर्वक संचालित हैं।

पर्यावरण से जुड़ा शाकाहार का विषय उपाध्याय श्री की प्रकृति से तदात्म्य का द्योतक है। देवबन्द (मु. नगर) में शाकाहार पखवाड़ा इसका जीवंत उदाहरण है। (राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा ने इस पखवाड़े के उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता की तथा इस कार्यक्रम में कई सांसद् आमंत्रित थे।)

शाकाहार के साथ ही व्यसनमुक्ति भी आपका विशेष अभियान रहा है। अनेकों जिला कारावासों तथा केन्द्रीय जेलों में व्यसन एवं अपराध मुक्ति की प्रेरणा हृदय परिवर्तन से कम असरकारक नहीं थी। अधिवक्ताओं, डॉक्टरों, भारतीय प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारी, आचार्यों आदि के फोरम गठित कर शाकाहार एवं व्यसनमुक्ति की प्रेरणा को तीव्रतम करने का आपका प्रयास अनुकरणीय है। आपका एक ही स्वप्न है- हमारा राष्ट्र व्यसनमुक्त बने, प्रतिभा सम्पन्न राष्ट्र बने। छुपी प्रतिभाओं को सामने लाने तथा उन्हें प्रेरणा देने के उद्देश्यों से राजस्थान के माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, मेडिकल कॉलेज एवं विश्वविद्यालयों से संपर्क कर वरीयता सूचि वाले छात्रों के सम्मान की योजना इसी दिशा में उठा एक कदम है। पुराने आचार्यों के कार्य

को प्रकाशित करने हेतु उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर गोष्ठियां छुपे विद्वानों को सामने लाने में सफल बनी है। विद्वत् परिषद्, शास्त्री परिषद्, सराक सम्मेलन, प्राच्य विद्या संगोष्ठियां, विद्वत् संगोष्ठियां-में सभी तो श्रुत संवर्द्धन के अविस्मरणीय पड़ाव है। इन कार्यों को और अधिक गति देने एवं संगठित करने के उद्देश्य से प्राच्य श्रमण भारती, भारत वर्षीय जैन दिगम्बर सराक ट्रस्ट, श्रुत संवर्द्धन हेतु पुरस्कार, शांति सागर (छाणी) स्मृति ग्रंथमाला आदि संस्थाओं की किसी एक व्यक्ति की प्रेरणा से स्थापना उस व्यक्ति के व्यक्तित्व को स्वतः ही बहुमुखी सिद्ध करती है।

जैन पुरातत्व एवं संस्कृति पुनरूद्धार की दृष्टि से भी उपाध्याय श्री के प्रयास अद्वितीय हैं। कुतुबमीनार, मथुरा, मेरठ, कमीशनरी आदि का संबंध जैनों से सिद्ध कर जैन संस्कृति की विशदता व प्राचीनता को उजागर किया है। बरनावा में भारतवर्ष का प्रथम सहस्त्रदल कमल मंदिर का निर्माण आपकी प्रेरणा व प्रयत्नों से हुआ है।

चरैवेति-चरैवेति, सृजक को विश्राम कहां? उपाध्याय श्री के चरण निरंतर बढ़ते ही जा रहे हैं न जाने कितनी ऊंचाइयां मापी जाएगी। काल के भाल पर पग रखकर अजस्त्र करुणा समाजोत्थान के लिए बह रही है, पर निस्पृहता अपनी जगह अवस्थित है। अंदर, कहीं गहरे भीतर तरंगातीत चेतना की अनुभूति तीव्रतम है।

अन्तर्ध्वनि

सत्य सदा सत्य ही होता है। वह किसी भी परिस्थिति या बंधन का मुहताज नहीं हो सकता। यही कारण है कि हमारे महान् तीर्थंकरों और आचार्यों ने मोक्षप्राप्ति के लिए **"सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः"** रूप जिस रत्नत्रय धर्म का उपदेश दिया, वह शाश्वत सत्य है। युग या परिस्थितियों के अनुरूप इनमें कमी-बेशी सम्भव नहीं हैं। मोक्षप्राप्ति के यही साधन हैं। क्योकि इस तरह के सिद्धान्त त्रिकाल सत्य होते हैं। किन्तु लौकिक दृष्टि से युगीन सत्य जब समय के प्रवाह में बहता हुआ वर्तमान तक आता है, तो उसी को हम इतिहास कहने लगते हैं। क्योंकि आज का इतिहास अतीत का आईना (दर्पण) है इसी इतिहास की कसौटी पर किसी भी युग के लोगों और उनके विचारों को देखा-परखा जाता है। इसीलिए इतिहास हमें अपने वर्तमान को सजाने-सवारने और समृद्ध बनाने की प्रेरणा देता है। इतिहास के अनुभवों-अनुभूतियों, समृद्धि-असमृद्धि, उसके परिणामों-दुष्परिणामों और आघातों आदि को अनदेखा करने का तात्पर्य होता है, अपनी दीर्घकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक विरासत को नकारना इसीलिए अपने अतीत को जानने के लिए इतिहास, कला, संस्कृति और साहित्य का अध्ययन प्रत्येक को आवश्यक होता है।

इसीलिए जैन समाज की इन विषयों में रुचि की कमी वाली बात बहुत दिनों से मेरे ध्यान में थी। संयोग से सन् 1997 में श्री दि० जैन सिद्ध क्षेत्र मथुरा चौरासी में चातुर्मास का योग बना। जैन धर्म की अति प्राचीनता का आज जो मूल्यांकन हो रहा है, उसमें मथुरा के कंकाली टीला के उत्खनन से प्राप्त जैन स्तूपों, मूर्तियों, आयागपट्टों आदि अनेक पुरातात्त्विक महत्व के अवशेषों का बहुत बड़ा योगदान है, अन्यथा इस सचाई को लोग मानने को तैयार ही नहीं थे। अत: मथुरा के इस जैन सांस्कृतिक पुरा-वैभव पर पुरातत्त्वविदों की एक संगोष्ठी मथुरा में ही करने का विचार था, किन्तु वैसा संयोग नहीं बन पाया। इसके स्थान पर श्री गणेशवर्णी दि० जैन संस्थान नरिया, वाराणसी के तत्त्वावधान में अक्टूबर 1997 में अयोजित तीर्थंकर

पार्श्वनाथ विषयक एक राष्ट्रीय बृहद् संगोष्ठी चातुर्मास समिति मथुरा के सहयोग से काफी सफल रही। मथुरा के कंकाली टीला विषयक संगोष्ठी का संयोग अब केसरगंज, अजमेर में चातुर्मास के समय यहाँ की चातुर्मास समिति के उत्साह को देखते हुए दि. 15 एवं 16 अक्टूबर 1999 को बना। देश के अनेक सुविख्यात पुरातत्त्व विदों ने इस संगोष्ठी को गरिमा प्रदान की।

वस्तुत: भारतीय संस्कृति में आरम्भ से ही कला को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। इस कला की सुदीर्घ और समृद्ध परम्परा ने हमारी चिंतन पद्धति को विविध रूपों में प्रभावित किया है। कला कल्पना को यथार्थ के साथ जोड़ती है। सूक्ष्म और गूढ़ विचारों को अभिव्यक्त करने तथा धर्म दर्शन के गूढ़ अर्थों को साकार करने का सशक्त माध्यम है - **'कला'**। इसीलिए कला समाज का दर्पण और सत्यं-शिवं-सुन्दरं का अच्छा समन्वय है। फिर चाहे वह कला संगीत, चित्र, मूर्ति, साहित्य अथवा जीवन जीने आदि माध्यमों से ही भले प्रस्फुटित हो।

आरम्भ से अब तक कला के इतिहास को देखें तो स्पष्ट है कि कला सदैव धर्म की सहचारी रही है तथा धर्म-दर्शन उसका प्राण रहा है। इसीलिए भी कला को सदा से विशेष सम्मान मिलता रहा है और एक बात यह भी कि कला के कारण धर्म में सरसता, समरसता और सौन्दर्य बोध का इतना भाव सदा से विद्यमान रहा है कि धर्म के प्रति जनमानस में अति आकर्षण और महत्व कभी कम नहीं हुआ।

जैन धर्मानुयायियों ने अपने देश की सांस्कृतिक विरासत को समृद्ध बनाने और समस्त कलाओं की अगणित तथा विविध उत्कृष्ट कृतियों से सम्पन्न करने एवं ललित कलाओं के उन्नयन में सदा अग्रणी रहकर महनीय योगदान किया है। इसीलिए सम्पूर्ण भारतीय मूर्ति, स्थापत्य और चित्र इन सभी कलाओं के सृजन एवं उन्नयन में जैन कला और इसके सर्जक कुशल शिल्पियों का अपूर्ण एवं अद्भुत कौशल सर्वत्र देखने को मिलता है। उदाहरण के रूप में उड़ीसा में उदयगिरि-खण्डगिरि की गुफायें, मथुरा के कंकाली टीले एवं आसपास से प्राप्त पुरा-अवशेष तथा कर्नाटक के श्रवणबेलगोला में प्रतिष्ठापित सत्तावन फुट उत्तुंग गोम्मटेश्वर

बाहुबलि की विशाल एवं भव्य मूर्ति के उदाहरण काफी है। इस दृष्टि से प्रत्येक युग की भारतीय कला को जैन कला ने काफी प्रभावित किया है।

इस मान्यता में काफी बल है कि मूर्तिकला जैन धर्म की मौलिक देन है। मूर्ति पूजा का खंडन करने वाले स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा लिखित सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि मूर्ति पूजा जैन धर्म की देन है। आज भी हम देखते है कि भारत में मूर्ति कला के रूप में प्राचीनतम मूर्तियां श्रमण परम्परा से ही संबंधित हैं। इतना सब कुछ होते हुए भी इस पुरातात्त्विक महत्व की और इतिहास आदि संरक्षण की ओर जैन समाज का ध्यान काफी कम ही कहा जायेगा। इसी उपेक्षा के चलते हमने देश के अपने बड़े-बड़े सुविख्यात तीर्थो और उनके वैभव को अपने से पराये होते या उन्हें या उनकी अपनी पहचान को नष्ट होते देखकर भी हम जागृत नहीं हुए। मथुरा के कंकाली टीला की जो सीमा आज रेखांकित है, वह पहले बहुत व्यापक रही है। इसमें और मथुरा के आसपास तथा इसके मध्यवर्ती अनेक क्षेत्रों में भी पुरातात्त्विक महत्त्व के जैन अवशेष भरे पड़े हैं। आज भी मकान की नींव या यत्र-तत्र इन महत्वपूर्ण क्षेत्रों की खुदाई के समय ये अवशेष प्राप्त होते है, किन्तु यह भारत की अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर कहाँ चली जाती है? इसका पता लगाना एवं उनका संरक्षण आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। अन्यथा न मालूम हम कितने महत्त्व की ऐसी अमूल्य अज्ञात सम्पदा से दिनों-दिन सदा के लिए वंचित होते रहेगें। अत: सतत् जागरूकता आवश्यक है।

प्रस्तुत संगोष्ठी से इन्हीं सब उद्देश्य का सफल उपक्रम सिद्ध हुआ। इस संगोष्ठी को सार्थकता एवं सफलता प्रदान करने वाले संगोष्ठी निर्देशक सुप्रसिद्ध पुरातत्त्व विद् प्रो॰ रमेशचंद्र जी शर्मा, केसरगंज एवं समस्त अजमेर की जैन समाज के साथ ही संगोष्ठी में अपनी गौरवमयी सहभागिता प्रस्तुत करने वाले सभी इसी तरह से सत्साहित्य की सेवा करते हुए दिव्य ज्योति को प्राप्त करे, ऐसी शुभ भावना है।

मेरठ चातुर्मास **उपाध्याय ज्ञानसागर**

क्षमावणी पर्व, 2.9.2001

पूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागर जी महाराज का अजमेर केसरगंज में ऐतिहासिक चातुर्मास

सराकोद्धारक परमपूज्य उपाध्याय श्री 108 ज्ञानसागरजी महाराज का ससंघ अजमेर केसरगंज में संपन्न सन् 1999 का चातुर्मास ऐतिहासिक उपलब्धियों से भरपूर रहा।

उपाध्याय श्री के चातुर्मास में समाजोपयोगी उल्लेखनीय कार्यक्रम संपन्न हुए। जिनमें महर्षि दयानंद सरस्वती विश्वविद्यालय में डिग्री कालेजों के 145 प्राचार्यों एवं प्राफेसरों की निबंध प्रतियोगिता, राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठियां, सिद्धचक्र मण्डल विधान, वृहद् सम्मान समारोह जैन समाज प्रतिभा सम्मान समारोह आदि प्रमुख हैं। वहीं पूज्य उपाध्याय जी के जेल में कैदियों के मध्य प्रभावक प्रवचन उल्लेखनीय हैं। पूज्यश्री के चातुर्मास की उपलब्धियों के प्रमुख कार्यक्रमों का विवरण इस प्रकार हैं

1. **चातुर्मास स्थापना** - अजमेर केसरगंज के धर्म विपासुओं को उपाध्याय श्री ने 27 जुलाई को श्रद्धालुओं की अपार भीड़ के मध्य चातुर्मास कलश की मंत्रोच्चारण पूर्वक स्थापना की।

2. **गुरु पूर्णिमा पर्व** - दिनांक 28 जुलाई को गुरु पूर्णिमा पर्व पर श्रद्धालुजनों ने पू० उ० श्री की पूजन अराधना की। इस अवसर पर पू० उ० श्री ने अपने मंगल उद्‌बोधन में कहा कि भारतीय संस्कृति में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान रहा है गुरु बिना सन्मार्ग नहीं मिलता जिसके जीवन ने गुरु नहीं, समझो उसका जीवन शुरु ही नहीं हैं।

3. **वीर शासन जयंति समारोह** - पूज्य उपराध्याय श्री के पावन सान्निध्य में 29 जुलाई वीर शासन जयंती समारोह का आयोजन विशाल जन समूह के मध्य किया गया है तथा 1 अगस्त को अजमेर तीर्थ क्षेत्र कमेटी की बैठक पूज्य उपाध्याय श्री के सान्निध्य में बुलाई गई जिसमें समाजोपयोगी महत्त्वपूर्ण निर्णय लिए गये।

4. **महिला सम्मेलन** - परम पूज्य उ० श्री के सान्निध्य में 10 अगस्त 1999 को महिलाओं में जागृति एवं 21वीं सदी में महिलाओं की दशा एवं दिशा पर विचार हेतु महिला सम्मेलन का आयोजन किया गया। उक्त अवसर पर उ० श्री ने कहा कि महिलाऐं समाज एवं देश की उन्नति में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। आज उन्हें अपने अंदर आचरण एवं कुछ करने की भावना जागृत करना चाहिए।

5. **युवा सम्मेलन** - पू० उ० श्री के पावन सान्निध्य में अजमेर जिले के समस्त दि. जैन मंदिरों के अध्यक्ष एवं मंत्री गणों की महत्वपूर्ण बैठक 18 अगस्त को आयोजित की गई जिसमें मंदिरों के जीर्णोद्वार रख-रखाव प्राचीन ग्रंथों के संरक्षण एवं स्वाध्याय की परंपरा को अनवरत रखने हेतु पू० उ० श्री ने निर्देश दिये। इसी श्रृंखला में 23 अगस्त को दोपहर 2 बजे युवा वर्ग के धर्म के प्रति घटते रुझान एवं पाश्चात्य संस्कृति के प्रति बढ़ते कदमों पर अंकुश लगाने हेतु पू० उ० श्री के सान्निध्य में युवा सम्मेलन का आयोजन किया गया। पू० उ० ने कहा कि युवा वर्ग समाज एवं देश की रीढ़ है तथा युवा शक्ति यदि सही दिशा में कार्य करे तो ही हमारी संस्कृति जीवित रह सकती है। युवा वर्ग का नैतिक कर्त्तव्य हो गया है कि वह अपने पूर्वजों के बताये मार्ग पर चलें।

6. **रक्षाबंधन महापर्व का आयोजन** - परम पूज्य उपा० श्री के सान्निध्य में रक्षाबंधन महापर्व का सामूहिक आयोजन 26 अगस्त को किया गया जिसमें उपा० श्री ने उस राखी के धागे का महत्व बताते हुए कहा कि इस दिन विष्णुकुमार मुनि महाराज ने अकंपनाचार्य आदि 700 मुनिराजों का उपसर्ग दूर किया था। जिस तरह एक साधु ने अपनी तपस्या के प्रताप से अपने साधर्मी साधुओं के जीवन की रक्षा कर वात्सल्य धर्म निभाया उसी तरह इस ऐतिहासिक घटना से प्रेरणा लेकर कष्ट में पड़े साधर्मी भाई-बहिनों की रक्षा करने का संकल्प लेना चाहिए। इसी के प्रतीक रूप में बहिन भाई के हाथ में राखी बांधती है।

7. **आ॰ शान्तिसागर महाराज का समाधि दिवस समारोह** - पूज्य उपा॰ श्री के पावन सान्निध्य में 11 सितम्बर को आ॰ श्री शांतिसागर छाणी के 44वें समाधि दिवस का भव्य आयोजन किया गया। जिसमें उपा॰ श्री ने चारित्र चक्रवर्ती आ॰ शांतिसागर छाणी के जीवन वृतांत को बताते हुए समाधिदिवस पर प्रकाश डालते हुए मृत्यु महोत्सव को सफल बनाने का उपदेश दिया।

8. **दशलक्षण महापर्व का शुभारम्भ** - दश लक्षण महापर्व का शुभारंभ 14 सितंबर को उपा॰ श्री के सान्निध्य में किया गया। जिसमें प्रातः सामूहिक पूजन एवं सायंकाल पं॰ डां॰ भागचन्दजी 'भागेन्दु' के प्रवचनों का अजमेर समाज ने भरपूर लाभ उठाया। पूज्य उपा॰ श्री के ससंघ सान्निध्य में सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन कर बच्चों को संस्कारित करने हेतु प्रश्नमंच आदि विभिन्न धार्मिक कार्यक्रमों का आयोजन किया गया।

9. **आ॰ श्री शान्तिसागर जी छाणी का 77 वाँ दीक्षासमारोह** - आ॰ श्री शांतिसागर जी छाणी का 77 वाँ दीक्षा समारोह 24 सितंबर को पू॰ उपा॰ श्री के सान्निध्य में सम्पन्न हुआ। जिसमें आ॰ श्री की दीक्षा की जानकारी देते हुए वैराग्य की ओर उन्मुख होने को कहा।

10. **क्षमावाणी पर्व समारोह** - विश्वमैत्री दिवस के रूप में क्षमावाणी पर्व का उपा॰ श्री के सान्निध्य में भव्य आयोजन किया गया। इस दिन अजमेर समाज के बच्चे से बूढ़े तक एक दूसरे से क्षमा मांगकर मैत्री की भावना भा रहे थे। उपा॰ श्री ने अपने प्रवचनों के माध्यम से जन समूह को बताया कि क्षमावाणी पर्व दोस्तों के बीच नहीं दुश्मनों बीच मनाना चाहिए। जिनसे हमारा बैर हो उससे क्षमा मांगनी चाहिए।

11. **धार्मिक शिक्षण शिविर (सराक) बालिका वर्ग** - धार्मिक शिक्षण हेतु सराक बालिका वर्ग के शिविर का आयोजन उपा॰ श्री के सान्निध्य में 1-10-2001 को किया गया। इस शिविर का उद्देश्य धर्म विमुख होती युवा पीढ़ी को धर्म में लगाना था। इस

शिविर में धर्म और विज्ञान दोनों का तुलनात्मक शिक्षण उपा॰ श्री द्वारा दिया गया।

12. **जिला स्तरीय विशाल शाकाहार रैली** - मांसाहार के विरोध एवं मूक पशुओं पर होते अत्याचारों को रोकने के लिए जिलास्तरीय विशाल शाकाहार रैली उपा॰ श्री के सान्निध्य में 3 अक्टूबर को निकाली गई जिसमें युवावर्ग ने विशेष भाग लेकर मांसाहार का डटकर विरोधकरके शाकाहार का समर्थन किया।

13. **भक्ति संगीत प्रतियोगिता** - 7 अक्टूबर से 9 अक्टूबर तक पूज्य उपा॰ श्री के सान्निध्य में भक्ति संगीत प्रतियोगिता का श्री दि॰ जैन संगीत मण्डल अजमेर के तत्त्वाधान में प्रो॰ सुशील पाटनी के निर्देशन में आयोजन किया गया।

14. **राष्ट्रीय संगोष्ठी** - परम पू॰ उपा॰ श्री के ससंघ सान्निध्य में 15 अक्टूबर से "मथुरा के जैन सतूप एवं कंकाली टीले का सांस्कृतिक पुरावैभव" विषयक राष्ट्रीय संगोष्ठी का प्रो॰ आर॰ सी॰ शर्मा के निर्देशन एवं डॉ॰ फूलचन्द जैन प्रेमी वाराणसी के सफल संयोजकत्व में किया गया।

15. **धार्मिक शिक्षण शिविर** - (सराक पुरुष वर्ग) - 27 अक्टूबर से पश्चिम बंगाल बिहार सराक पुरुष वर्ग का धार्मिक शिक्षण शिविर का आयोजन उपा॰ श्री के सान्निध्य में किया गया। इस शिविर में सराक बंधुओं को धर्म से जोड़ने के लिए प्रारंभिक शिक्षा से अवगत कराया गया।

16. **प्रतिभासम्मान समारोह** - पूज्य उपा॰ श्री के ससंघ सान्निध्य में 29 अक्टूबर को महर्षि दयानंद सरस्वती विश्वविद्यालय अजमेर में छुपी प्रतिभाओं को उभारने हेतु प्रतिभा सम्मान समारोह का आयोजन कर प्रतिभाशाली छात्र छात्राओं को सम्मानित कर प्रोत्साहवर्धन किया।

17. **राष्ट्रीय संगोष्ठी एवं श्रुत संवर्धन पुरस्कार समर्पण समारोह** - 10 नवम्बर को पू॰ उ॰ श्री के सान्निध्य में डॉ॰ हीरालाल जैन

व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर राष्ट्रीय संगोष्ठी एवं श्रुत संवर्धन पुरस्कार समर्पण समारोह का आयोजन किया गया।

18. **राज्य स्तरीय प्रतिभा सम्मान समारोह** - पू० उ० श्री के ससंघ सान्निध्य में राज्य स्तरीय प्रतिभा सम्मान समारोह का आयोजन किया गया। जिसमें 10-12 वीं कक्षा के प्रतिभा सम्पन्न छात्रों का सम्मान किया गया।

19. **महासभा अधिवेशन** - 25 नवम्बर को पू० उ० श्री के सान्निध्य में निर्मल कुमारजी सेठी की अध्यक्षता में महासभा अधिवेशन सानन्द सम्पन्न हुआ।

20. **पिच्छिका परिवर्तन** - 27 नवम्बर को पिच्छिका परिवर्तन समारोह का आयोजन किया गया जिसमें संयम का उपकरण नवीन पिच्छिका परम पू०उ० श्री, पू० मुनि श्री एवं क्षु० श्री को भेंट कर पिच्छिका परिवर्तन समारोह संपन्न हुआ।

उपाध्याय ज्ञानसागर जी और अजमेर का चार्तुमास

पूज्य उपाध्याय 108 श्री ज्ञानसागर जी महाराज तात्कालिक प्रवचन व्याख्याता हैं। उनका व्याख्यान वर्तमान द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के अनुरूप ही होता है। वे सच्चे अर्थो में सन्मार्ग प्रदर्शक हैं, निश्चयैकान्त के प्रलाप और उसके प्रचार प्रसार तथा मुनि विरोधी आगम विरोधी गतिविधियों से वे भलीभांति परिचित हैं तथा इस एकान्त विष से सावधान रहने तथा उसके समीचीन निरसन हेतु उन्होने समाज के प्रबुद्धजनों एवं विद्वानों को सदैव प्रेरित किया है। यह भी सामयिक सूझबूझ का परिचायक है। अन्यत्र समाज में व्याप्त कुरीतियों के निराकरण हेतु आपंकी तात्कालिक प्रवचन पटुता दृष्टिगत होती है, वे आर्ष मार्ग के पोषक हैं, किसी उपदिष्ट प्रवचन से समाज को सावधान करते हुए जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित पदार्थ स्वरूप को स्वीकार करते हुए उनका व्याख्यान औषधि के समान है, पारस पुरुष गुरू जी की वाणी का अद्‌भुत स्पर्श सामाजिक चित्तवृत्ति को भी सात्विक कांति और दीप्ति से झिलमिला देता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भौतिकता के घुप्प अंधेरे में आपकी वाणी रोशनी का कार्य कर रही है जिसका कारण आपकी हित मित प्रिय सत्य आकर्षक शब्दावली एवं सुरीली शिष्ट भाषा तो है ही किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की सर्जनात्मक प्रतिभा को मुक्त भाव से भांपना आपका विशिष्टतम गुण जनाकर्षण का केन्द्र है। आप एक ऐसा स्नेह और विश्वास भरा वातावरण प्रत्येक सम्पर्क में आने वाले को देते हैं जिससे उसे अपनी कल्पनाओं विचार धाराओं एवं प्रतिभा को पूर्ण विकास का अवसर मिले। उपाध्याय श्री किसी धर्म व सम्प्रदाय से बंधे नहीं है। आगमोक्त साधना के बंधनों में ही बंधकर निर्विकार, निर्द्वन्द, निर्मल सरिता की तरह बह रहे है। इन्ही सब कारणों से सामान्य से विशिष्ट सभी जैन/अजैन अनायास ही चरणों में झुककर खिंचे चले आते हैं। उनकी सहज सरल हृदयगम्य वाणी में सभी डूब जाते हैं।

अध्यात्मशिल्पी उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी को युवा पीढ़ी से बहुत आशा है वे भलीभांति जानते हैं कि युवावर्ग मूर्तिमन्त उर्जा है ये प्रत्येक समाज एवं राष्ट्र की वास्तविक सम्पत्ति होते है। उर्जस्वित युवापीढ़ी कुछ न कुछ करने के लिए सदैव उत्साहित एवं उत्सुक रहती है। इनके व्यक्तित्व को किस प्रकार लोक मंगल की ओर ले जाया जा सके, इस विषय पर उपाध्याय श्री गहन चिन्तन करते हैं और अपने प्रवचनों से प्रेरित करते हैं इनके प्रवचनों में जहाँ राष्ट्र धर्म दर्शन एवं संस्कृति के स्वर गुंजायमान होते हैं वहाँ उनके मूल में अध्यात्म तत्व अवश्य विद्यमान रहता है, उनकी इसी विलक्षण्ता से आकृष्ट हो जो भी दर्शन हेतु आता है वह ज्ञान के सागर में सराबोर हो जाता है और इनका ही चरणचंचरिक हो जाता है। ऐसे संत के चरणों से प्रत्येक धरती का एक एक कण पवित्र होना चाहता है। पदविहारी मुनिवर का 1999 का पावन प्रवास एक विलक्षण चातुर्मास बना। बहुआयामी गतिविधियां सम्पन्न हुई।

वीर प्रसवा धरा राजस्थान प्रान्त की हृदयस्थली, सर्वधर्म समभाव धारक धार्मिक नगर 'अजयमेरु' (अजमेर) के उत्कृष्ट पुण्योदय से सराकोद्धारक परमपूज्य 108 उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज (ससंघ) का पावन चातुर्मास (1999) केसरगंज स्थित श्री पार्श्वनाथ दि. जैन जैसवाल जिन मन्दिर जी पर अनेकानेक धार्मिक आध्यात्मिक एवं महत्वपूर्ण सामाजिक कार्यक्रमों के साथ सम्पन्न हुआ।

पूज्य श्री का मंगल प्रवेश श्रुताराधना के मंगल पर्व श्रुतपंचमी को हुआ ज्ञान के आगर पू० ज्ञानसागर जी ज्ञान के महापर्व पर ही नगर में पधारे और चारों दिशाओं में ज्ञान का आलोक प्रसारित कर दिया। पश्चात अजमेर से विहार कर नगर-नगर, ग्राम-ग्राम में ज्ञान की रोशनी विखेरते हुये सोयी हुई चेतना को जागृत किया, अनेंकों स्थानों के श्रद्धालु वर्षायोग हेतु उपा. श्री से भावना व्यक्त कर अनुनय-विनय करते। चारों ओर एक ही आवाज गूंज रही थी। हम सबकी है यह अभिलाषा- उपाध्याय श्री का हो चौमासा, नसीराबाद की धरा पर जैसे ही उपाध्याय श्री के चरण पड़े, आजमेरवासियों का विश्वास पूर्ण होता हुआ नजर आया और वह दिन आ ही गया जब पूज्य श्री का मंगल पदार्पण अजमेर की धरा पर

हो ही गया। अजमेरवासियों ने पलक पावड़े बिछाकर उपाध्याय श्री का भावभीना स्वागत किया। तत्पश्चात् 27 जुलाई को विशाल जनमैदिनी के मध्य विविध मंत्र क्रियाओं द्वारा चार्तुमास स्थापना हुई और तत्काल ही गुरूपूर्णिमा और वीरशासन जयन्ती के दिव्य पर्वों पर उपाध्याय श्री जी के सान्निध्य से नवीन-नवीन धार्मिक व्याख्याएं प्रस्फुटित हुई। श्रावक और श्रमणों के वात्सल्यपर्व रक्षा बन्धन विशेष प्रश्नमंच एवं प्रवचन द्वारा जैन जैनेतर समुदाय को जैन धर्मानुसार सभी को समझाया गया।

18 अगस्त को भगवान पार्श्वनाथ के मोक्ष कल्याणक के पावन प्रसंग पर 100 प्रश्नों की प्रश्नमाला पुस्तिका सर्वत्र वितरित की गई विजेताओं को पुरस्कृत किया गया। महिला मण्डल की ओर से 64 ऋद्धि विधान का आयोजन श्रीमती सुशीला-पाटनी, आर.के. मार्वल्स के सौजन्य से किया गया। दहेज प्रथा पर एक आकर्षक भाषण माला का आयोजन किया गया जिससे युवावर्ग विशेष प्रभावित हुआ। 21 अगस्त को जैन धर्म के विषय में चित्रकला प्रतियोगिता का आयोजन किया गया 23 अगस्त को जैन न्याय को अकलंक देव का अवदान विषय पर पूर्व में आयोजित संगोष्ठी के शोधलेखों की स्मारिका का विमोचन श्री महेश चन्द नीरज कुमार द्वारा किया गया।

चातुर्मास के अन्तर्गत परमपूज्य उपाध्याय जी के पावन सान्निध्य में दशलक्षण पर्व के अन्तर्गत वाचस्पति डा० श्री भागचन्द भागेन्दु जी के द्वारा दसधर्मों को व्याख्यापित किया गया। पू० उपाध्याय श्री जी द्वारा सर्वार्थ सिद्धि की वाचना हुई एवं अनेकों भव्य सामूहिक एवं धार्मिक कार्यक्रमों का आयोजन हुआ। परमपूज्य 108 श्री शांतिसागर जी महाराज (छाणी) का 77वां दीक्षा जयन्ती समारोह भी भव्यता से मनाया गया तथा क्षमावाणी पर्व का विशेष कार्यक्रम श्री मन्दिर जी केसरगंज के प्रांगण में सम्पन्न हुआ। पूज्य आर्यिका 105 श्री राजमती माता जी के समाधि मरण के पुण्य दिवस के उपलक्ष्य में उन्हें श्रद्धांजलि भी समर्पित की गई। उल्लेखनीय है केसरगंज में ही पू. माताजी की समाधि हुई थी। क्षमावाणी दिवस को डालमिया स्कूल के विशाल प्रांगण में विश्वमैत्री दिवस के रूप में मनाया गया। यहां सभी जैन जैनेतर विद्वानों द्वारा विश्वमैत्री को

आजकी परमावश्यकता बताते हुए पू. उपाध्याय जी के प्रति कृतग्यता ज्ञापित करते हुए बताया कि महा-संत ही हमारे जीवन को परिवर्तित कर मंगल पथ पर लगा सकते हैं।

इस्लाम समाज के एस. एफ. हसन चिश्ती ने कहा आज मेरा किसी संत के पास आने का पहला अवसर है इसीलिए पहले मैं मुनिजी को नमन करता हूं। इस्लाम धर्म भी अहिंसा की बात करता है। धर्म की छत्र छाया में रहने वाला व्यक्ति ही सुख शांति प्राप्त कर सकता है।

3 अक्टूबर को आचार्य श्री सुमतिसागर जी महाराज की जन्म जयंती के उपलक्ष्य में अजमेर के इतिहास में पहली बार विशाल शाकाहार रैली निकाली गई। रैली प्रातः केसरगंज के प्रारम्भ होकर नगर के प्रमुख मार्गो से गुजरती हुई राजकीय इस्लामिक स्कूल पहुंची। रैली का ध्वजारोहण सांसद ओंकार सिंह शेखावत ने किया हरी झंडी का संकेत अतिरिक्त संभागीय आयुक्त श्री धर्मेन्द्र भटनागर, अतिरिक्त क्लैक्टर सागर हरसहाय मीजा सी. आर. ने किया। रैली में जिले में लगभग 100 स्कूलों के बच्चों ने भाग लिया विशाल जनसमुदाय एवं समाज की विशिष्ट महिलाओं व पुरूषों के अतिरिक्त मुरैना, आगरा, दिल्ली, मुजफ्फरनगर, मेरठ, ग्वालियर, अलवर, जयपुर, बोधगया, पटना आदि सूदूर स्थानों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। रैली को टाइम्स आफ इण्डिया के कार्यकारी निदेशक श्री साहू रमेशचंद जैन ने भी संबोधित किया तथा अन्त में धर्मसभा के रूप में परिवर्तित विशाल रैली को उपाध्याय श्री ने भी आशीर्वाद प्रदान किया।

7 से 9 अक्टूबर तक त्रिदिवसीय काव्य का विशेष कार्यक्रम संचालित हुआ। छोटा धड़ा नसियां जी में भक्ति नृत्य प्रतियोगताएं चली 9-10 को चैम्पियन आफ चैम्पियन्स (विजेता शिरोमणि) समाज अभिनन्दन पुरस्कार वितरण आदि कार्यक्रम सम्पन्न हुए 15-16 अक्टूबर, 1999 को 'मथुरा के जैन स्तूप एवं कंकाली का सांस्कृतिक वैभव' पर संगोष्ठी का भव्य आयोजन हुआ। गोष्ठी में अर्न्तराष्ट्रीय पुरातत्वविद् प्रो. रमेश चन्द्र शर्मा, वाराणसी, डॉ.पी.एल. चतुर्वेदी कुलपति दयानन्द वि. विद्यालय अजमेर, डा. कमलेश जैन वाराणसी डा. वी. के. शर्मा मथुरा डा. एस.

डी. त्रिवेदी लखनऊ, श्री क्रांति कुमार वाराणसी, पं. बालमुकुन्द शास्त्री मुरैना, डा. कस्तूर चन्द सुमन जयपुर श्री ज्ञान चन्द जैन बिल्टी वाला जयपुर डा. लक्ष्मणसिंह राढौड जोधपुर, डा. फूलचंद प्रेमी जी वाराणसी आदि मूर्धन्य विद्वानों ने अपने विषयानुरूप शोधलेख प्रस्तुत किए।

जिला स्तरीय शाकाहार भाषण एवं निबन्ध लेख प्रतियोगिता का भव्य आयोजन हुआ। 2 अक्टूबर से 25 अक्टूबर तक संचालित प्रतियोगिताओं का भव्य समापन समारोह महाराणा प्रताप सभागार में प. पूज्य उपाध्याय श्री के पावन सान्निध्य में श्री भीखाबाई श्रम एवं खादी ग्रामोद्योग मंत्री राजस्थान सरकार के मुख्य अतिथि प्रो. डा. पी. व्यास अध्यक्ष मा. शिक्षा बोर्ड की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। उल्लेखनीय है इस प्रतियोगिता में 1100 गांव के लगभग 1 हजार स्कूलों को 15 विभिन्न केन्द्रों पर भव्य प्रतियोगिताओं का आयोजन हुआ। इसके द्वारा शाकाहार का प्रचार प्रसार व्यापकस्तर पर हुआ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय में राज्य स्तरीय प्राचार्य सम्मेलन अजमेर चातुर्मास का एक ऐतिहासिक आयोजन रहा। सम्पूर्ण भारतवर्ष के दूर दराज नगरों जिसमें 145 डिग्री कॉलेज के प्राचार्य सम्मिलित हुए। प्राचार्यो के इस सम्मेलन में शिक्षकों ने अपने सारगर्भित उद्बोधन से लाभान्वित किया और एक स्वर से स्वीकार किया कि शिक्षा को आदर्श बनाने के लिए शिक्षकों को संस्कारी और आदर्श बनना होगा।

कारागार में कैदियों के सम्मुख उपाध्याय श्री जी का भावभीनी प्रवचन हुआ। जेल अधीक्षक श्री श्याम सुन्दर बिस्सा ने उपाध्याय श्री जी की ससंघ अगवानी की। प्रवचन सुनकर 15-20 कैदियों ने अपने जीवन में मांस-मंदिरा, बिड़ी सिगरेट तम्बाकू आदि व्यसनों का त्याग किया एवं अनेक कैदियों ने उपाध्याय श्री की अमृत वाणी से प्रेरणा लेते हुए अपने जीवन में परिवर्तन लाने का संकल्प लिया। दिगम्बर जैन समाज की ओर से सभी कैदियों में मिष्ठान वितरित किया गया कारागार में जैसे ही उपाध्याय श्री ने अपने प्रवचन में कहा - सम्पति में सब बंटवारा करते हैं लेकिन जब पाप पुण्य की बात आती है वह हमें स्वयं

भोगना पड़ता है। यहां की अदालत से कोई बच भी सकता है लेकिन ऊपर वाले की अदालत से कोई नहीं बच सकता। उन्होंने बन्दियों से कहा कि रक्षाबंधन और दीपावली आदि पर्वो के अवसर पर आपकी अनुपस्थिति से आपके परिवार जन को कितना दु:ख होता है और उस समय आपके मन में भी कितनी ग्लानि होती है जब आप जेल से बाहर जाएं सत्पुरूष बनकर जाएं जिससे देश व समाज का तथा आपके परिवार का जो ऋण है उसे आप सही ढंग से चुका सकें तथा अपने मन में करूणा व त्याग की भावना रखते हुए जीवन एवं भविष्य को भी सुधार सकें।

महती प्रभावना के साथ श्रमण एवं श्रावक संस्कृति के कीर्ति ध्वज को समुन्नत करता हुआ युवा महिला पुरूष बच्चों में संस्कारों के मूल को शुद्ध करता हुआ उपाध्याय 108 श्री ज्ञानसागर जी महाराज का पावन प्रवास सम्पन्न हुआ। अजमेर निवासी आज भी कार्यक्रमों में उमड़ते जन सैलाब जैन जैनेतर सभी के उत्साह को विस्मृत नहीं कर पायें।

29 अक्टूबर को महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय के वृहस्पति भवन में 1999 की विभिन्न परीक्षाओं में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने वाली 85 प्रतिभाओं को सम्मानित किया गया। इस अवसर पर कुलपति महोदय द्वारा वि. विद्यालय के निर्माणधीन जलाशय का नाम भगवान महावीर जलाशय रखने की भी घोषणा की गई। चातुर्मास समिति एवं विश्वविद्यालय अजमेर के संयुक्त तत्वाधान में आयोजित इस भव्य कार्यक्रम के मुख्य अतिथि डा. जितेन्द्र सिंह उच्च शिक्षा मंत्री राजस्थान सरकार तथा अध्यक्ष डा. पी. एल. चतुर्वेदी कुलपति महर्षि दयानन्द वि. विद्यालय अजमेर विशिष्ट अतिथि श्री अशोक पाटनी (आर. के. मार्वल किशनगढ़) एवं डा. नलिन के. शास्त्री बोध गया। इस समारोह में 145 महाविद्यालयों ने प्रतिभागिता की। अजमेर, झालावाड़, बीकानेर, चुरू, श्री गंगानगर, ब्यावर, हनुमानगढ़, शाईलपुर, सांगरिया, भीलवाड़ा, रतनगढ़ आदि अनेक स्थानों की विद्यार्थी प्रतिभाएं उपस्थित थे। 28 विद्यार्थी अजमेर के थे। कार्यक्रम का संचालन प्रो. सुशील पाटनी ने किया।

संगोष्ठियाँ

परम पूज्य 108 उपाध्याय रत्न श्री ज्ञानसागर जी महाराज के सान्निध्य में विद्वत् संगोष्ठियाँ।

1. क्षुल्लक गुणसागर जी (क्षुल्लक अवस्था में) मुंगावली-जिला गुना (म.प्र.) में अखिल भारतवर्षीय शास्त्री परिषद् अधिवेशन एवम् त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी (सेमीनार) सन् 1985.

2. खनियाधाना-जिला शिवपुरी (म.प्र.) में विद्वत् परिषद् संगोष्ठियाँ सन् 1986.

3. ललितपुर (उ.प्र.) में न्याय विद्या वाचना एवम् राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी सन् 1987.

1. खेकड़ा-जिला मेरठ (उ.प्र.) में जैन सिद्धान्त वाचना एवम् त्रिदिवसीय राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी सन् 1989.

2. बिनौली-जिला बागपत में विद्वत् संगोष्ठी सन् 1989.

3. मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) में वृहत द्रव्य संग्रह की वाचना एवम् विद्वत् संगोष्ठी सन् 1989.

4. सरधना (मेरठ) उ.प्र. में ज्ञान कॉन्फ्रैंस (राष्ट्रीय विद्वत संगोष्ठी) दिनांक 25.3.90 से 29.3.1990 तक।

5. सरधना (मेरठ) में ज्ञान कांफ्रेंस दिनांक 18.3.90.

6. बुढ़ाना-जिला मुजफ्फरनगर में अखिल भारतवर्षीय शास्त्री परिषद अधिवेशन एवम् विद्वत् संगोष्ठी सन् 1990.

7. सिद्धक्षेत्र मधुबन शिखर जी (जिला-गिरिडीह) बिहार में विद्वत् संगोष्ठी सन् 1991.

8. गया (बिहार) में अखिल भारतवर्षीय शास्त्री परिषद् अधिवेशन एवम् पंच दिवसीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 09.11.91 से 14.11.1991 तक।

9. रफीगंज (जिला गया) में विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 10.02.92.

10. रांची-झारखण्ड में विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 08.06.92 से 10.06.1992 तक।

11. रांची-झारखण्ड में राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13.10.92 से 15.10.92 तक।

12. अम्बिकापुर (म.प्र.) में पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य पर विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 10.04.94 से 20.04.1994 तक।

13. साड़म (बिहार-बोकारो) में विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13.11.94 से 15.11.94 तक।

14. महानगर मेरठ (उ.प्र.) में अखिल भारतवर्षीय शास्त्री परिषद् अधिवेशन, विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13.02.95 से 15.02.95 तक।

15. मुजफ्फरनगर (उ.प्र.) में विद्वत् सम्मेलन दिनांक 11.04.95.

16. सहारनपुर (उ.प्र.) में वैज्ञानिक विषय पर राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 25.05.95 में 27.05.95 तक।

17. शाहपुर (मुजफ्फरनगर) (उ.प्र.) में राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी (न्याय में आचार्य अकलंक देव का अवदान) दिनांक 27.10.96 से 29. 10.96 तक।

13. सिद्वक्षेत्र मथुरा चौरासी (उ.प्र.) में तीर्थंकर पार्श्वनाथ प्रभु पर राष्ट्रीय विद्वत संगोष्ठी दिनांक 29.10.97 से 21.10.97 तक।

19. ऋषभांचल (गाजियाबाद) उ.प्र. में भगवान ऋषभ देव एवम् उत्तर प्रदेश के जैन पुरातत्व पर संगोष्ठी दिनांक 25.01.98.

20. दिल्ली-कैलाश नगर (गांधी नगर) में कुतुबमीनार परिसर और जैन संस्कृति विषय पर विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 23.03.98 से 25.03.98 तक।

21. अतिशय क्षेत्र तिजारा (जिला-अलवर) राजस्थान में अखिल भारतवर्षीय विद्वत् परिषद् अधिवेशन एवम् पं. जुगल किशोर जी मुख्तार के व्यक्तित्व-कृतित्व पर राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 30.10.98 से 1.11.98 तक।

22. सीकर (राजस्थान) अखिल भारतवर्षीय विद्वत् परिषद एवं अ.भा. शास्त्री परिषद् का संयुक्त अधिवेशन सन् 1999.

23. अजमेर (राजस्थान) में मथुरा स्तूप एवम् कंकाली टीला पर राष्ट्रीय विद्वत संगोष्ठी एवम् कंकाली टीला चित्र प्रदर्शनी दिनांक 15.10.99 से 17.10.99 तक।

24. अजमेर (राजस्थान) में डा. हीरालाल जैन एक कृतित्व एवं व्यक्तित्व पर राष्ट्रीय विद्वत संगोष्ठी दिनांक 19.11.99.

25. मालपुरा (टोंक) राज. अखिल भारतवर्षीय शास्त्री परिषद का अधिवेशन एवं त्रिदिवसीय विद्वत् संगोष्ठी सन् 2000.

26. सूर्यनगर (गाजियाबाद) उ.प्र. में डा. एन.के. उपाध्ये पर राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 01.03.2001 से 03.03.2001 तक।

    आई.ए.एस. द्वारा उद्घाटन श्री जारिया जी (केन्द्रीय मंत्री) मुख्य अतिथि - डा. वसन्त लाल जी पाटिल।

27. फरीदाबाद (हरियाणा) में श्रावकाचार पर राष्ट्रीय संगोष्ठी दिनांक 01.04.2001 से 03.04.2001.

    श्री सौभाग्यमल जी जस्टिक (रिटायर्ड) दिल्ली (मुख्य अतिथि) ने दीप प्रज्ज्वलन किया।

28. अतिशय क्षेत्र बड़ागाँव (बागपत) (उ.प्र.) - अखिल भारतवर्षीय विद्वत् परिषद एवं शास्त्री परिषद का अधिवेशन।

29. केकड़ी-जिला अजमेर (राजस्थान) में राष्ट्रीय कार्यशाला-भगवान महावीर के 2600वें वर्ष पर एक राष्ट्रीय संगोष्ठी दिनांक 26.5.2002 से 30.05.2002 तक।

केन्द्रीय कपड़ा मंत्री धनंजय कुमार जैन ने उद्घाटन किया।

30. अलवर (राज.) अहिंसा पर्यावरण पर विद्वत् संगोष्ठी-आदिनाथ दि. जैन बी.एड. कॉलेज में।

31. मेरठ (उ.प्र.) चौधरी चरणसिंह विश्वविद्यालय में राष्ट्रीय विद्वत् संगोष्ठी।

32. देवबन्द (सहारनपुर) उ.प्र. में दो दिवसीय विद्वत् संगोष्ठी एवं अखिल भारतवर्षीय विद्वत् परिषद् अधिवेशन दिनांक 13-14 दिसम्बर, 2001.

33. सिद्धक्षेत्र सोनागिर जी दतिया, (म.प्र.) में 13-14 सितम्बर 2003 को (प्रथम बार) अखिल भारतवर्षीय वाचनालय एवं शोध संस्थान विद्वत् संगोष्ठी।

34. सिद्धक्षेत्र सोनागिर जी दतिया, (म.प्र.) में जैनधर्म और विज्ञान विषय पर विद्वत् संगोष्ठी 2-3 अक्टूबर 2003.

35. सिद्धक्षेत्र सोनागिर जी में दतिया (म.प्र.) 13-15 अक्तूबर, 2003 तक प्रथम बार युवा विद्वत् संगोष्ठी।

विषय :

"श्रावकाचार की उपयोगिता"

"वर्तमान परिवेश में युवा विद्वानों का कर्त्तव्य"

"शिक्षण शिविर एवं नर संबंधी समस्यायें एवं समाधान"

सम्पादकीय

पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागर जी महाराज के सान्निध्य एवं निर्देशन में मथुरा का जैन "सांस्कृतिक पुरा-वैभव" पर अजमेर में आयोजित विद्वत्संगोष्ठी एक विशेष सारस्वत यज्ञ था। इस बहुआयामी संगोष्ठी में अनेक विषयों की विस्तार से समीक्षा हुई। कुछ नवीन प्रकरण प्रकाश में आये व कतिपय पुराने प्रसंगों व सन्दर्भों की नवीन व्याख्या प्रस्तुत हुई।

मथुरा से उत्खनित तथा सर्वेक्षण से प्राप्त जैन कलाकृतियों का भारतीय इतिहास-पुरातत्त्व व संस्कृति के क्षेत्र में अप्रतिम योगदान है। 19वीं शताब्दी के मध्य से 20वीं शती के अन्त तक प्राच्य विद्या विशारदों एवं उत्खननकर्ताओं ने जिस सामग्री को भूगर्भ से निकालकर अपने गहन अध्ययन व विश्लेषण से जनमानस के समक्ष प्रस्तुत किया, उससे भारत के सांस्कृतिक इतिहास में एक नवीन अध्याय का श्रीगणेश हुआ।

19वीं शती के मध्य में अनेक पाश्चात्य विद्वान् और इतिहासकार यह भ्रम पाले पड़े थे कि जैनधर्म स्वतन्त्र मत न होकर बौद्ध धर्म का ही एक अंग है, किन्तु मथुरा नगर के पश्चिमी घाट पर स्थित कंकालीटीला नामक पुरास्थल तथा यत्र-तत्र से प्राप्त अनेक जैन मूर्तियों, आयागपट्टों और उत्कीर्ण प्राचीन अभिलेखों के प्रबल प्रमाणों से यह सुस्थिर हो सका कि जैन मत एक स्वतन्त्र धर्म था और ईसा से पूर्व की शताब्दियों में ही ये लोकविश्रुत हो चला था। फ्यूरल के उत्खनन से और भूलर के विद्वत्तापूर्ण पाठ और विश्लेषण से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हुआ कि जैनधर्म और समाज बहुत ही विकसित व संगठित अवस्था में था।

भुवनेश्वर (उड़ीसा) के पास उदयगिरि-खण्डगिरि में खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख को छोड़कर अन्य कोई ऐसा प्रशस्त पुरासाक्ष्य नहीं था जो जैनधर्म पर इतना प्रकाश डाल सके। अवश्य ही हड़प्पा से प्राप्त पाषण निर्मित लघु नग्न धड़ व लोहानीपुर, पटना के पास से प्राप्त नग्न मूर्ति एक पूर्ववर्ती प्रतिष्ठित परम्परा की ओर इंगित करती है। किन्तु ये

दोनों पुरावशेष अनेक शंकाओं, विवेचनाओं व सम्भावनाओं को बल प्रदान करते रहे। इस पशोपेश की गम्भीर पृष्ठभूमि में मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त सैकड़ों अवशेष और अनेकों ब्राह्मी लेखों ने न केवल अन्धकार में दीपशिखा की स्थापना की, अपितु भारतीय सांस्कृतिक धारा को नूतन क्षितिज प्रदान किया।

इन पुरावशेषों का ऐतिहासिक, भाषा-वैज्ञानिक, साम्प्रदायिक, धार्मिक, सामाजिक और शैक्षिक महत्त्व तो है ही, साथ ही तत्कालीन अर्थात् ईसा पूर्व द्वितीय शती के मध्यकाल लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक के समाज के अनुशीलन के लिए दर्पण का कार्य करता है।

सामग्री तो उपलब्ध हुई किन्तु कुछ आकस्मिकताओं के कारण उसका यथेष्ट अभिलेखीकरण तैयार न हो सका। भूलर व फ्यूरर दोनों ही कार्य पूर्ण होने से पूर्व काल-कवलित हो गये और जो कुछ अधूरे अभिलेख मिल सके, उनके आधार पर स्मिथ ने सन् 1900 में एक सचित्र विवरण प्रकाशित किया। वह पुस्तक ही मथुरा व जैनधर्म के शोध व अनुशीलन के लिए आकर ग्रन्थ के समान समाहित रही किन्तु इसमें उपलब्ध चित्रों व विवरणों ने जहाँ अनेक महत्त्वपूर्ण समाधान प्रस्तुत किये, वहीं कुछ विसंगतियाँ भी छोड़ दीं। तब से एक शताब्दी तक अनेक विद्वान् उन गुत्थियों को सुलझाने में लगे रहे व इस दृष्टि से यथा समय गोष्ठियों का आयोजन व विचार-विमर्श हुआ।

यह दुर्भाग्य का विषय है कि इतनी विशाल व महत्त्वपूर्ण पुरातात्विक सामग्री को आशा के अनुरूप प्रकाश सुलभ नहीं हुआ और वह अधिकांशतः लखनऊ संग्रहालय के सुरक्षित संकलनों एवं कतिपय वीथिकाओं की शोभावृद्धि तक ही सीमित रहीं। यद्यपि राखालदास बनर्जी ने बड़े परिश्रम से विस्तृत सूचीपत्र तैयार किये किन्तु कुछ प्रशासनिक अंतरायों के फलस्वरूप वे प्रकाशित नहीं हो सके। इन अभिलेखों की वर्तमान स्थिति भी अनिश्चित है। इस पृष्ठभूमि में अजमेर में आयोजित "जैन पुरावैभव" गोष्ठी एक सफल प्रयास था। इसमें अनेक विद्वान् पधारे, जिन्होंने विभिन्न विषयों पर गवेषणात्मक निबन्ध प्रस्तुत किये। साथ ही मथुरा के जैन पुरा-वैभव के उपयुक्त प्रदर्शन, सूचीपत्रण, शोध, प्रकाशन आदि की समुचित व्यवस्था की आवश्यकता पर भी बल दिया।

इस संगोष्ठी-यज्ञ की एक फलश्रुति यह हुई कि पूज्य उपाध्यायश्री ने मथुरा से पधारे संस्कृति व इतिहास के गम्भीर विद्वान् डॉ. वीरेन्द्र कुमार शर्मा को मथुरा व जैन धर्म पर एक विस्तृत पुस्तक लिखने की प्रेरणा दी और सौभाग्य से अंग्रेजी भाषा में लिखित यह पुस्तक प्रकाशित हो गई है। इसमें भारत में जैनधर्म की प्रतिष्ठा, प्रसार और उसके मथुरा से घनिष्ठ सम्बन्धों का विद्वत्तापूर्ण और गवेषणात्मक विवरण है।

इस संगोष्ठी में सम्माननीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत गवेषणात्मक निबन्धों के अतिरिक्त विश्रुत विद्वान् स्व. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन के सम्बन्धित विषय के उपयोगी दो निबन्ध पुरानी जैन पत्रिकाओं से तथा Dr. U.P. Shah & Ernest Bender के अंग्रेजी निबन्ध को इस ग्रन्थ में साभार संकलित किया है। साथ ही कुमार अनेकान्त जैन द्वारा परिश्रमपूर्वक विस्तार से संगोष्ठी की सम्पूर्ण उपलब्धियों को इसके प्रारम्भ में ही "संगोष्ठी प्रेक्षा" शीर्षक से प्रस्तुत किया गया है। इस तरह इसे अनेक दृष्टियों से अपने विषय का उपयोगी ग्रन्थ बनाने की ही मुख्य दृष्टि रही है। किसी भी संगोष्ठी में प्रस्तुत निबन्धों का इस तरह पुस्तक के रूप में प्रकाशन अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि मानी जाती है।

संगोष्ठी के आयोजन में पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के निरन्तर मार्गदर्शन एवं उत्साहवर्धन के साथ ही केसरगंज अजमेर के जैन समाज एवं इसके सभी कार्यकर्ता और अन्य जिन महानुभावों ने भी तन-मन-धन से सहयोग प्रदान किया वे सभी हमारी सराहना एवं कृतज्ञता के पात्र हैं।

प्रो० रमेश चंद शर्मा
डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी
वाराणसी

पार्श्वनाथ जयन्ती
19 दिसम्बर 2003

प्रकाशकीय

उत्तर भारत में विलुप्त प्राय: दिगम्बर मुनि मुडा के पुन: प्रादुर्भाव के प्रथम जनम एवं आगमोक्त सशक्त वर्तमान आचार्य परम्परा के उत्तर भारत के प्रथम दिगम्बराचार्य शांतिसागरजी छाणी की पावन मुनि परम्परा के प्रभावक यशस्वी युवा बाल योगी राष्ट्र-सन्त सराकोद्धारक उपाध्याय मुनि श्री ज्ञानसागर जी महाराज का मेवाड राजस्थान की पावन वीर भूमि अजयमेरू (अजमेर) के केसरगंज के वर्ष 1999 के चातुर्मास से न केवल मेवाड़ (राजस्थान) प्रान्त धन्य हुआ अपितु वहाँ की समाज के अथक प्रयासों से विश्व में नवचेतना जागृत हुई, जन-जन का भगवान ऋषभदेव के समीचिन सर्वोदयी जन वचनों की तरफ आकर्षण बढ़ा। चातुर्मास में आयोजित विविध धर्म प्रभावक कार्यों जिनमें अहिंसा शाकाहार रैली, सराक बन्धुओं के लिए विशेष शिक्षण-प्रशिक्षण शिविर तथा सराक बन्धुओं का पूज्य उपाध्याय श्री के प्रति श्रद्धा समर्पण देखते ही बनता था। करीब 145 विश्वविद्यालयों एवं डिग्री कॉलेजों के प्रचार्यों का सम्मेलन उनका जैन दर्शन के प्रति रूझान पूज्य उपाध्याय श्री की बहुत बडी देन है। इस क्रम में पूज्य श्री के निर्देशन में 15-16 अक्टूबर, 1999 को देश के प्रख्यात पुरातत्वविद् डॉ. आर.सी. शर्मा वाराणसी के निर्देशन में डॉ. फूलचन्द जी जैन 'प्रेमी' के कुशल सयोंजकत्व में हुई। "मथुरा के जैन स्तूप एवं कंकाली का सांस्कृतिक वैभव" विशयक गोष्ठी जिसमें भारतवर्ष के प्रतिष्ठित लगभग 20 विद्वानों ने अपने आलेख प्रस्तुत किए। इस गोष्ठी में तो जैन धर्म की प्राचीनता व सार्वभौतिकता की अभिवृद्धि में चार चाँद ही लगा दिए। वास्तव में अजमेर की केसरगंज जैन समाज का तीव्र पुण्योदय ही था कि एक से बढ़कर एक गोष्ठियों, सेमिनारों, प्रवचन श्रंखलाओं ने जैन दर्शन की ध्वजा पताका को अपने प्राचीन गौरव तक पहुँचाया।

पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी जैसे अभीक्ष्ण ज्ञानाराधक संत का पावन आशीष पाकर 'प्राच्य श्रमण भारती' संस्था मुजफ्फरनगर अपने को

धन्य मानती है जिसके अन्तर्गत लगभग 75 ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जो महान आचार्यों, विद्वानों के विरचित होने के बावजूद भी जन-जन के लिए सुलभ नहीं थे। कई सरस्वती युगों के अभिनन्दन ग्रन्थों प्रकाशीत कर माँ जिनवाणी के सपूतों का अभिनन्दन तो किया ही अपितु संस्था ही धन्य हो गई है। महत्वपूर्ण कई गोष्ठियों के शोध पत्रों का प्रकाशन कर जैन जैनेतर सरस्वती पुत्रों के बीच संस्था ने गौरवान्वित स्थान बनाया है। इसी श्रंखला में उदार हृदय, धर्म प्राण केसरगंज (अजमेर) समाज ने "मथुरा के जैन स्तूप एवं कंकाली का सांस्कृतिक वैभव" गोष्ठी के देश के कई मूर्धन्य विद्वानों के आलेखों का प्रकाशन का सुअवसर देकर माँ जिनवाणी की सेवा का संस्थान को पावन अवसर दिया है।

एतदर्थ संस्था 'प्राच्य श्रमण भारती' पूज्य उपाध्याय श्री के श्री चरणों में बारम्बार नमन करते हुए केसरगंज (अजमेर) समाज के प्रति आभारी है। जिन्होनें पुस्तक प्रकाशन का पुण्यार्जन प्राप्त किया।

पुनश्च भविष्य में भी संस्था को माँ जिनवाणी की सेवा व साहित्य भंडार की अभिवृद्धि का सुअवसर मिलता रहे।

अंत में हम दीप प्रिंटर्स के श्री एम.एल. जैन का भी आभार व्यक्त करते हैं जिन्होंने इस कृति को एक सुन्दर रूप में सजाया।

प्राच्य श्रमण भारती	प्राच्य श्रमण भारती
अध्यक्ष	*मंत्री*
योगेश कुमार जैन	रविन्द्र कुमार जैन (नावले वाले)

आर्यावती - अमोहिनी आयागपट्ट
प्रथम शती ई॰ पू॰
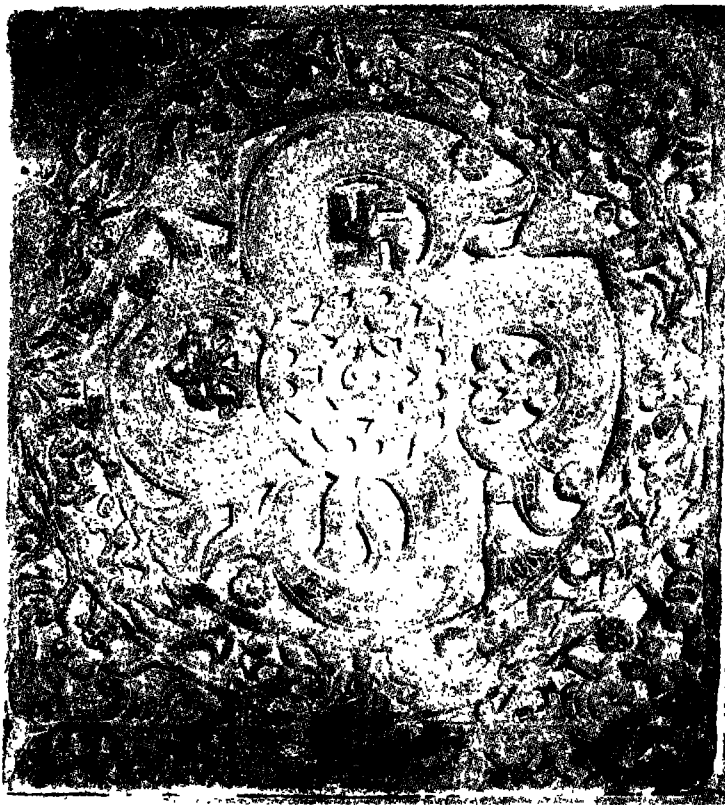
स्वस्तिक आयागपट्ट, प्रथम शती ई०
(मध्य में तीर्थंकर विराजमान)

स्तूप-उपासना का दृश्य (शीर्षपट्टी का अग्रभाग), प्रथम शती ई० पू०

संवत् 54 की तिथि एवं लेख युक्त जैन सरस्वती प्रतिमा,
दूसरी शती ई०
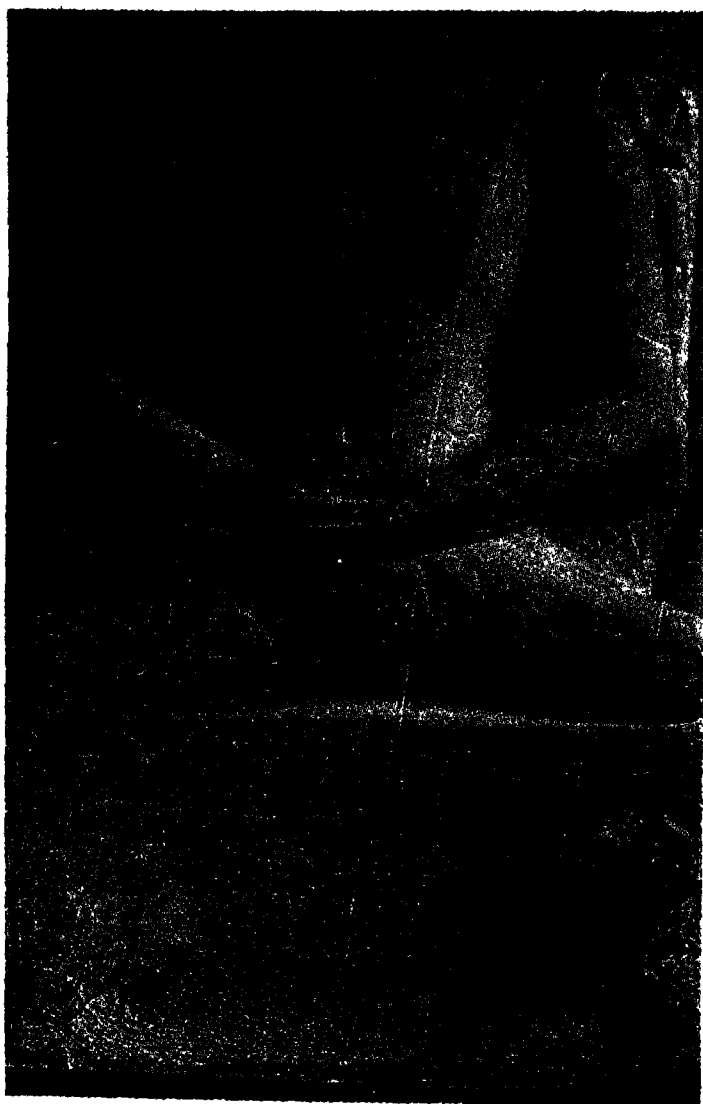
ध्यानस्थ जिन, कुषाण काल
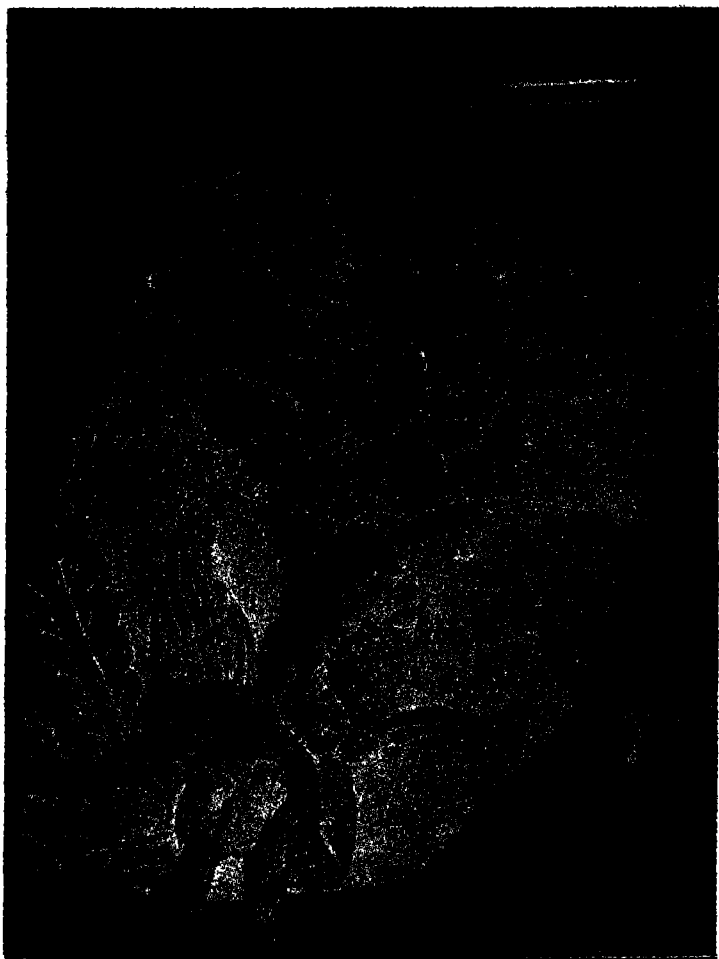
अर्द्ध फालक मुनि एवं सुपर्ण, ल० दूसरी शती ई०

तीर्थंकर चरण चौकी पर देव निर्मित स्तूप का उल्लेख, दूसरी शती ई०

ध्यानस्थ जिन, कुषाण काल

वेदिका स्तभ पर शाल भंजिका, कुषाण काल
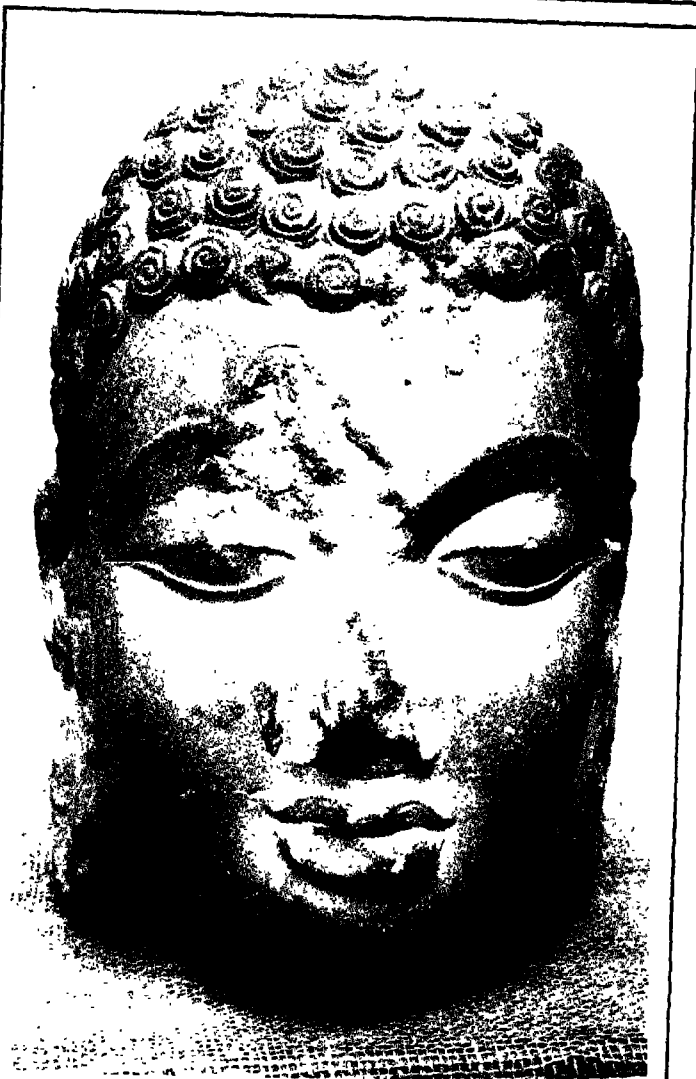
तीर्थंकर मस्तक, गुप्त काल

ध्यानस्थ जिन का अधोभाग, गुप्त काल

अलंकृत छत्र, पांचवी छटी ई०
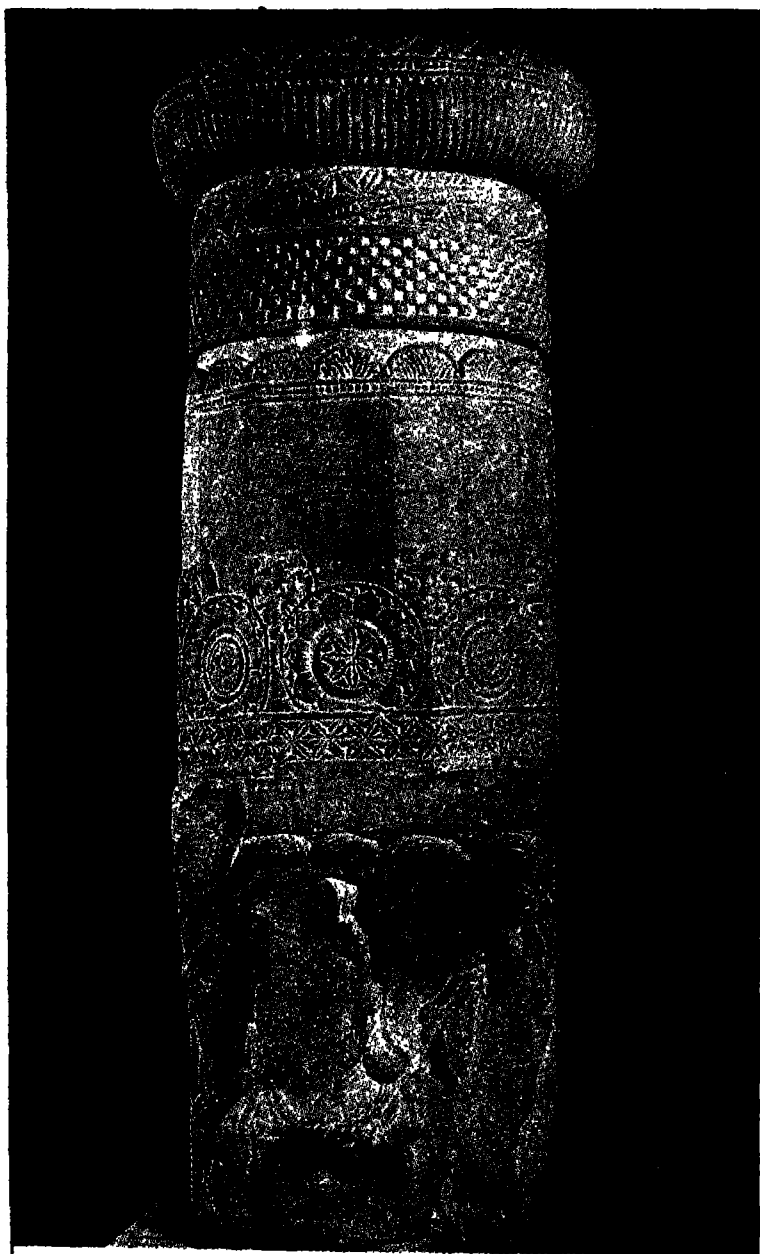
अलंकृत स्तम्भ, गुप्तकाल

मंगल कलश से उत्कीर्ण स्तम्भ, छटी शती ई०

ऋषभनाथ - नेमिनाथ संघाटमूर्ति (1), लगभग 8वीं शती ई०

श्री दिगम्बर जैन जैसवाल मन्दिर (केसरगंज) अजमेर की मूल वेदी

महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय के कुलपति श्री पी.एल. व्यास जी (मथुरा कंकाली टीला) प्रदर्शनी का उद्‌घाटन करते हुए

कंकाली टीला से सम्बन्धित कुछ झलकियाँ
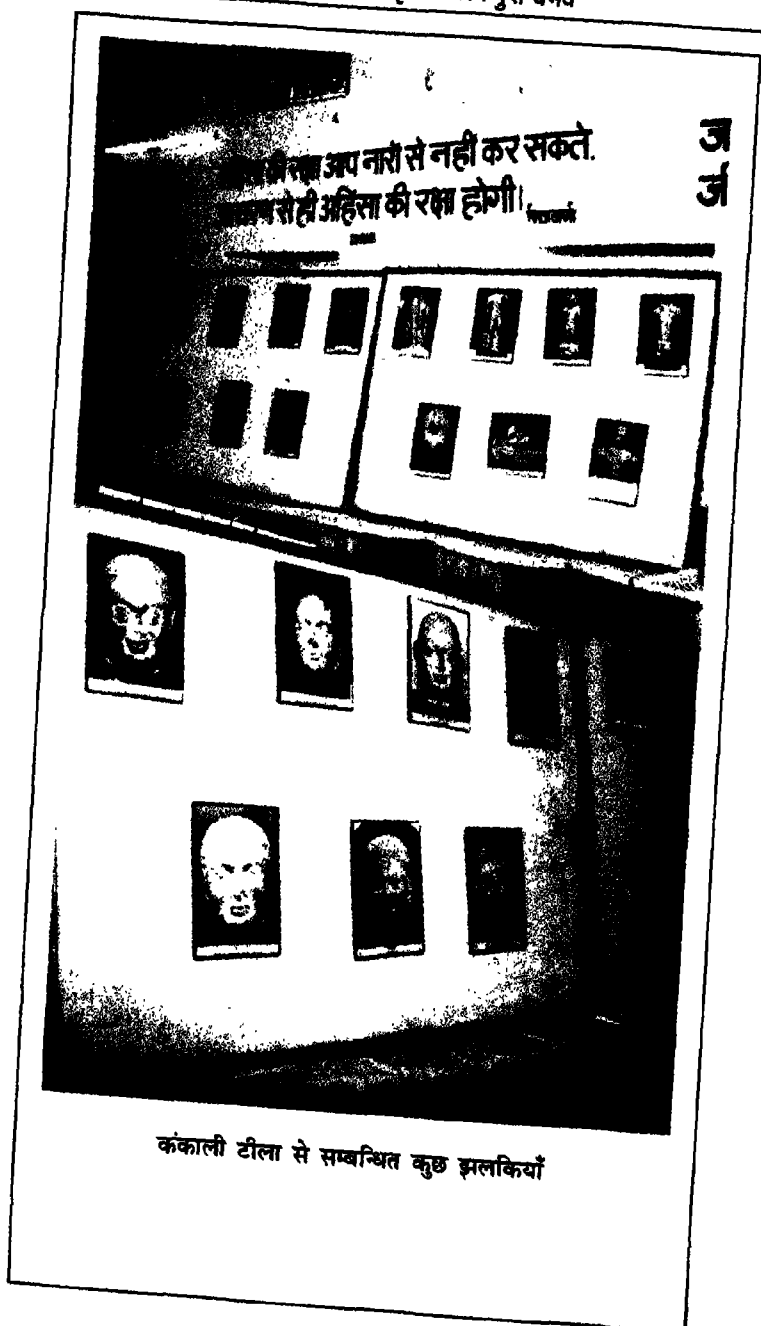
अजमेर जिला विद्यालय स्तरीय शाकाहार भाषण एवं निबंध लेखन प्रतियोगिता, समापन समारोह का एक दृश्य

डॉ. हीरा लाल संगोष्ठी में उद्बोधन करते हुए सांसद श्री राशा सिंह रावत

श्रुत संवर्द्धन पुरस्कार समर्पण समारोह में डॉ. श्री कस्तूर चन्द जी सुमन का सम्मान करते हुए श्री राशा सिंह रावत एम.पी., अजमेर

श्री वी.के. शर्मा अंतर्राष्ट्रीय इतिहासकार का सम्मान

राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति श्री के. एल. कमल एवं महर्षि दयानन्द विश्वाविद्यालय के कुलपति पी.एल. व्यास जी

शाकाहार रैली अजमेर में सराक छात्राएँ

विशाल शाकहार रैली में सांसद श्री राशा सिंह रावत एम. पी. आदि गणमान्य व्यक्ति विशाल शाकाहार रैली के शुभारंभ में उद्बोधन करते हुए

विषय-सूची

"मथुरा के जैनस्तूप व कंकाली का सांस्कृतिक वैभव"

संगोष्ठी-प्रेक्षा

कुमार अनेकान्त जैन*

पूज्य उपाध्याय 108 श्री ज्ञानसागर जी महाराज के ससंघ पावन सान्निध्य में आयोजित "मथुरा के जैन स्तूप व कंकाली का सांस्कृतिक वैभव" द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी 15 व 16 अक्टूबर 1999,

स्थल - जैनभवन, केसरगंज, अजमेर (राजस्थान)

प्रो. सुशील पाटनी और डॉ. कमलेश कुमार जैन, वाराणसी के मंगलाचरण के बाद संगोष्ठी के प्रथम उद्घाटन सत्र में समाज के अध्यक्ष भागचन्द जी गदिया ने सर्वप्रथम सभी समागत विद्वानों का सम्मान किया। संगोष्ठी संयोजक डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी ने मथुरा के महत्त्व को दर्शाते हुए द्विदिवसीय गोष्ठी की उपयोगिता बतलायी और कहा कि यह अजमेर जैन समाज का परम सौभाग्य है, जो इस महत्त्वपूर्ण गोष्ठी को आयोजित करने का श्रेय उन्हीं को मिल रहा है।

भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पूर्व निदेशक प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा ने विषय प्रवर्तन करते हुए "मथुरा का जैन स्तूप-सांस्कृतिक वैभव" पर आलेख प्रस्तुत करते हुए कहा कि-

मथुरा में कंकाली टीला स्थल पर पुराकाल में निर्मित स्तूप भारतीय संस्कृति का विश्वकोष था। अतीत के गर्भ में विस्मृत, विलुप्त एवं विलुण्ठित इस महान् सांस्कृतिक केन्द्र के अवशेष समय-समय पर विद्वानों एवं पुरा समीक्षकों के माध्यम से गौरव गाथा सुनाते तो रहे हैं किन्तु आज

---

* शोध अध्येता, जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूं (राजस्थान).

तक हम इस अद्वितीय निधि का उचित मूल्यांकन एवं संरक्षण नहीं कर सके हैं।

डॉ. शर्मा ने मथुरा के जैन स्तूप एवं कंकाली के सांस्कृतिक वैभव के सम्यक् दर्शन के लिए निम्न विशेषताओं का पुनराकलन करके कहा-

1. यह एक अत्यन्त प्राचीन स्तूप था जिसका शुभारम्भ ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व हो चुका था। उत्खनन से उपलब्ध पुरावशेष उसके उस युग को आलोकित करते हैं जब से मुनियों व आचार्यों ने समृद्ध श्रद्धालुओं को प्रस्तर मण्डित व अलङ्कृत करने को प्रेरित किया।

2. कंकाली के पुरावशेष शुंग, शक, पल्हव, कुषाण, गुप्त तथा मध्यकाल के समाज के अध्ययन अनुशीलन के लिए दर्पण हैं।

3. जैनधर्म संगठन तथा सामाजिक संरचना के दिग्दर्शन के लिए तो यह अप्रतिम स्मारक था।

4. जैन मूर्तियों के आरम्भ व विकास के लिए इस स्तूप के अतिरिक्त अन्य कोई केन्द्र रहा ही नहीं, क्योंकि प्रतीक आयागपट्ट, जिन आकृतियों का उद्भव, उनका क्रमिक विकास, व्यूह स्वरूप, मानक स्तम्भों के रूप में पल्लवन, परिचिति के लांछनों का आरम्भ, विशाल जिन प्रतिमाओं का श्रीगणेश ये सभी सोपान यहाँ हस्तामलकवत् दर्शनीय हैं।

5. तीर्थंकर सुपार्श्व या पार्श्वनाथ जी को विशेष महत्त्व देकर पूजा का आधार बनाना मथुरा की प्रतिष्ठित नाग संस्कृति के साथ समन्वय का रहस्य प्रतीत होता है। इसका निश्चित काल निर्धारण करना कठिन है। इस महत्त्वपूर्ण घटना को समन्वय या स्याद्वाद का सूत्रपात मानें या व्यवहार स्तर पर पुष्टि, इस पर विद्वानों को मनन करना है।

6. समन्वय के प्रयोग से जहाँ उपदेशों के प्रचार से सफलता मिली वहीं कभी-कभी विरोध स्वर भी गूंजे और अन्य मतावलम्बियों ने स्तूप पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास किया।

7. जैन स्तूप के मूर्तिलेखों का कई दृष्टियों से महत्त्व है। समाज, धर्म, आचार, साहित्य,भाषा लिपि, कला, कालगणना, संवत्सर-विवेचन अनेक विद्याओं के अध्ययन व शोध की प्रेरणा इनसे मिलती है।

8. सरस्वती आन्दोलन, माथुरी वाचना, सरस्वती मूर्ति, चैत्य, स्तूप सभी प्राचीन काल से चली आ रही ज्ञानाग्नि में आहुतियों के विभेद हैं।

9. देवनिर्मित स्तूप व उस पर शुक्ल पताका फहराना कुछ ऐसी गुत्थियाँ हैं, जिन पर और अधिक प्रकाश अपेक्षित है।

डॉ. शर्मा ने अपने आलेख का समापन करते हुए यह भी कहा कि विषय प्रवर्तन के माध्यम से मैंने कुछ चिन्तनसूत्रों को परमपूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज व आप जैसे विशिष्ट विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है- इनसे शोध का ताना-बाना बुनना आपके हाथ में है।

प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा जी के विषय प्रवर्तन अभिभाषण के पश्चात् उद्घाटन सत्र में मुख्य अतिथि के रूप में दयानन्द विश्वविद्यालय, अजमेर के कुलपति डॉ. पी.एल. चतुर्वेदी जी ने अपने वक्तव्य में कहा कि मैं आरम्भ से ही अर्थशास्त्र का विद्यार्थी रहा हूँ। अर्थशास्त्र और इतिहास का चूंकि कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी सदा से मेरी धार्मिक आस्था पूर्ण रही है। आज मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज जैसे पावन सन्तों के सान्निध्य में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ है, वास्तव में मैं अपने आपको गौरवशाली अनुभव कर रहा हूँ।

आज विश्व के अग्रगण्य माने जानेवाले देश जब पूर्णरूप से निरक्षर और जङ्गली जीवन व्यतीत कर रहे थे तब भारत मात्र सांस्कृतिक एवं धार्मिक दृष्टि से ही नहीं वरन् आर्थिक दृष्टि से भी सम्पूर्ण विश्व का प्रतिनिधित्व कर रहा था। वह मात्र अर्थ प्रधान ही नहीं था बल्कि वीरता-समर्पण-दान-त्याग-तप के भी सहस्रों उदाहरण प्रस्तुत करता रहता था। अनेकों आततायियों ने हजारों वर्षों तक इस देश पर आक्रमण

करके हमारी संस्कृति का ह्रास किया, हमारी कलाओं को समाप्त किया किन्तु फिर भी इस देश की जिजीविषा थी, समय-समय पर पूज्य उपाध्याय मुनि ज्ञानसागर जी जैसे आध्यात्मिक मुनि खड़े होते रहते हैं और सम्पूर्ण विश्व को शान्ति-समता का सन्देश देते रहते हैं। आज जब कि सारी संस्कृतियाँ तिरोहित हो रही हैं तब एक बार फिर सम्पूर्ण विश्व की नजर भारत की ओर है और वह भारतीय सभ्यता को अपनाने के लिए लालायित है। भारतवर्ष में महिलाओं की स्थिति कभी दयनीय नहीं रही, वह श्रद्धा का पात्र बनी, वह मातृत्व की आधार बनी। यह वैभव मात्र भारतवर्ष में है कि मन की शान्ति के लिए किसी भी देवता को पूज सकते हैं। कोई भी ग्रन्थ पढ़ सकते हैं।

"**मथुरा का सांस्कृतिक वैभव**" बतलाते हुए मुख्य अतिथि पद से बोलते हुए अजमेर विश्वविद्यालय के माननीय कुलपति डॉ. चतुर्वेदी ने कहा कि सम्पूर्ण समाज की तब तक सर्वविध उन्नति नहीं होती, जब तक कला का चरमोत्कर्ष नहीं होता। मथुरा धार्मिक और कलात्मक समन्वय के रूप में प्रसिद्ध हुआ। मथुरा सर्वदेशिक नगर के रूप में प्रसिद्ध हुआ। मथुरा मथु नामक राक्षस के द्वारा पालित था। शूरसेन प्रदेश की राजधानी मथुरा में ई. पूर्व 2री शती में जैन संस्कृति का उद्भव हो चुका था। मथुरा वैदिक-जैन-बौद्ध धार्मिक सहिष्णुता का स्थान रहा है। अतः आज हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि मथुरा की ऐतिहासिकता को हम सामने लायें, इस सन्दर्भ में आयोजित यह द्विदिवसीय संगोष्ठी निश्चित ही जनचेतना जगाने में तथा नये तथ्यों को सामने लाने में लाभप्रद सिद्ध होगी।

उद्घाटन सत्र के अन्त में परमपूज्य उपाध्याय मुनि ज्ञानसागर जी महाराज ने अपना मङ्गल उद्बोधन देते हुए कहा कि मथुरा से प्राप्त पुरातात्विक अवशेषों से ज्ञात होता है कि वहाँ कितनी वैभवपूर्ण संस्कृति रही है। मथुरा से सात सौ की संख्या में जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। जिस स्थान पर 500-500 डाकुओं ने जम्बू स्वामी के चरणों में प्रायश्चितपूर्वक अपना जीवन अर्पित किया, ऐसी नगरी मथुरा हमारे लिए गौरव का विषय है। सभी धर्मों की संस्कृति मथुरा में विकसित हुई। हमें मथुरा के कंकाली टीले के महत्त्व को समझना चाहिए, जैनधर्म की प्राचीनता

सिद्ध करने में इस क्षेत्र का बहुत महत्त्व है। जिस व्यक्ति के अन्दर अपने देश एवं संस्कृति के प्रति जागृतिपूर्ण क्रान्ति नहीं, बहुमान नहीं, उसका जीना, न जीना बराबर है।

अपने मङ्गल उद्बोधन के पश्चात् जैनभवन में पूज्य उपाध्यायश्री के सान्निध्य में डॉ. चतुर्वेदी ने एक भव्य चित्र प्रदर्शनी का उद्घाटन किया। प्रदर्शनी में मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त जैन मूर्तियों, आयागपट्टों, तोरणों, आलेखों एवं अन्य अवशेषों के सैकड़ों की संख्या में चित्रों की प्रदर्शनी लगायी गयी थी। प्रो. रमेश चन्द्र शर्मा जी ने उपाध्यायश्री जी, मुख्य अतिथि तथा अन्य उपस्थित जनसमुदाय को चित्रों का विस्तार से परिचय प्रस्तुत किया। इस प्रकार की संगोष्ठी में यह अपने ढंग की यह प्रथम चित्र प्रदर्शनी थी, जिसके माध्यम से पहली बार जनता ने उत्साहपूर्वक मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त अवशेषों के माध्यम से जानकारी प्राप्त कर जैन संस्कृति के गौरवपूर्ण अतीत से परिचित हुए। इस प्रदर्शनी से संगोष्ठी की सार्थकता और सफलता का सभी को अनुभव भी हुआ। ये सभी चित्र प्रो. आर. सी. शर्मा एवं डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी के प्रयत्नों से अमेरिकन अकादमी, रामनगर, वाराणसी द्वारा प्राप्त हुए थे। इस प्रदर्शनी की तैयारी में जहाँ स्थानीय जैनसमाज के कार्यकर्त्ताओं में पूरा उत्साह रहा, वहाँ इसके संयोजक में प्रो. आर.सी. शर्मा, डॉ. त्रिवेदी जी, डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी' तथा अनेकान्त कुमार जैन, लाडनूं के योगदान की सभी ने सराहना की।

संगोष्ठी के द्वितीय सत्र में दिनांक 15.10.99 को दोपहर 2 बजे उपाध्याय जी के मङ्गल सान्निध्य में प्रथम आलेख पढ़ा गया। डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी जी का विषय था "मथुरा में कंकाली से भिन्न जैन स्थलों का परिचय"। किन्हीं कारणवश डॉ. रस्तोगी प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं हो पाये अतः उनका आलेख गोष्ठी के संयोजक डॉ. फूलचन्द 'प्रेमी' वाराणसी ने पढ़ा। प्रस्तुत हैं लेख के प्रस्तुत अंश–

"मथुरापुरीकल्प" में जिनप्रभसूरि ने वर्णन किया है कि मथुरा नगर को धर्मतीर्थ बनाने का सौभाग्य सातवें तीर्थंकर सुपार्श्व के समय में ही हो गया था। मथुरा नगरी 12 योजन दीर्घ और 9 योजन विस्तीर्ण थी। वह यमुना के जल से प्रक्षालित उत्तुङ्ग प्राचीर से अलङ्कृत थी और

असंख्य जिन मन्दिरों, देवालयों, धवलभवनों, वापीकूप, पुष्करणियों एवं हाट-बाजारों से सुशोभित थी, वहाँ अनेक चातुर्विध, ब्राह्मण नित्य शास्त्र पाठ करते थे। महालक्ष्मी निर्मित श्री सुपार्श्व स्तूप– जो देव निर्मित कहा गया है यही था। इसके अतिरिक्त डॉ. रस्तोगी के आलेख में (शौरीपुर) शौर्यपुर-बटेश्वर तथा यहाँ से प्राप्त काले पत्थर की संवत् 1063 की मुनि सुव्रतनाथ की प्रतिमा, ताखे में नेमिनाथ तथा बाहर चतुर्भुजी बलराम, व श्रीकृष्ण की प्रतिमा का उल्लेख किया है। जम्बू स्वामी सिद्धक्षेत्र चौरासी की ऐतिहासिकता, मुनिसुव्रतनाथ के समय का 'सप्तर्षिटीला' जहाँ सप्तऋषियों के उपदेश एवं प्रभाव से महाराज शत्रुघ्न और नगरवासियों ने मथुरा में अनेक जिन मन्दिर बनवाये, जिन प्रतिमायें स्थापित करायीं; का भी उल्लेख किया। 'सपऊग्राम' की ऐतिहासिकता का परिचय देते हुए डॉ. रस्तोगी ने राजकीय संग्रहालय मथुरा में संगृहीत कुछ अतिविशिष्ट उन जैन कलाकृतियों का वर्णन भी किया, जो कंकाली टीला से इतर क्षेत्र से प्राप्त हुई।

द्वितीय आलेख श्री क्रान्ति कुमार जी, सारनाथ, वाराणसी ने मथुरा के शिलालेखों एवं मूर्ति लेखों के सन्दर्भ में जैन समाज विषय पर अपना निबन्ध पढ़ा। प्रस्तुत है लेख के कुछ प्रमुख बिन्दु–

जैनधर्म में अवसर्पिणी युग में 24 तीर्थंकरों का मार्गदर्शन धर्मानुलम्बियों को प्राप्त है। ईसा से 800 वर्ष पूर्व तक का इतिहास कुछ न कुछ ऐतिहासिक साक्ष्य के साथ तो मिल जाता है पर इससे पूर्व के इतिहास पर हमें केवल विश्वास और श्रद्धा का ही सहारा लेना पड़ता है। ऋषभनाथ से लेकर नेमीनाथ या अरिष्टनेमी तक की मूर्तियाँ कुछ की अधिक, कुछ की कम मिल जाती हैं, पर इतिहास की दृष्टि से वे हमारा अधिक ज्ञानवर्धन नहीं कर पाती हैं। इससे पहले कि हम आगे बढ़ें पहले तीर्थंकर शब्द की शास्त्रीय परिभाषा जान लें। भगवतीसूत्र (20.8.15) में वर्णित आधार पर हेमचन्द्र ने पुस्तक 'योगशास्त्र' में लिखा है- 'वो तीर्थंकर इसलिये हैं क्योंकि वो संसार-सागर का तरण करने में सहायता करते हैं अथवा वो चतुर्वर्गीय (साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका) के रूप में तीर्थ की स्थापना करते हैं'। यह ऋग्वेद (1.46.8) के वाक्य 'तीर्थो सिन्धुना रथः' से बिल्कुल मिलता-जुलता है।

कुषाण राज्य के समय में जैन समाज बौद्धों से अधिक बड़ा था। जैन मूर्तियों का आकार भी बौद्ध मूर्तियों से बड़ा है। लूडर्स की तालिका में 159 ब्राह्मी लेख हैं जिनमें 87 जैनधर्म के हैं, 55 बौद्ध धर्म के तथा 17 अन्य के हैं। निष्कर्ष के रूप में आलेख वाचक ने दो बातें कहीं– पहली शिलालेखों के बारे में जिन्होंने केवल शब्दों को अमरत्व नहीं दिये बल्कि साहित्य की उस कड़ी को भी टूटने नहीं दिया जिससे हम आज साहित्य का ऐतिहासिक प्रादुर्भाव कुछ अधिक सही रूप में बता पाते हैं। दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह कि स्त्रियों को जो कि करीब 90-95 प्रतिशत की संख्या में उभरती हैं, दानकर्त्ता या समर्पणकर्त्ता के रूप, एक विशेष अधिकार धार्मिक कृत्यों द्वारा मिला। उन्होंने धार्मिक परम्पराओं को सुरक्षित रखा। शायद सही कारण है कि आज भी जैनधर्म कमोवेशरूप में उसी प्रकार का है जैसे दो हजार वर्ष पहले था। इन्हीं स्त्रियों की सहभागिता से यह धर्म जीवित रहा जबकि समकालीन बौद्ध धर्म भारत से विलुप्त प्राय हो गया था।

तृतीय आलेख डॉ. ए.एल. श्रीवास्तव जी का 'प्राचीन जैन मङ्गल चिह्न' विषय पढ़ा गया। डॉ. श्रीवास्तव किन्हीं कारण से उपस्थित नहीं हो पाये थे, अतः उनके शोधपूर्ण आलेख का वाचन प्रो. सुशील पाटनी जी ने किया। प्रस्तुत है इस आलेख के प्रमुख अंश–

माङ्गलिक भावना के सृजन के लिए ही अनेक मङ्गल चिह्न रचे गये थे। भारतीय लोक जीवन में लोकप्रिय इस मङ्गल चिह्नों में से अपनी आवश्यकतानुसार जैन सम्प्रदाय ने कतिपय मङ्गल चिह्नों को अपनाया, उनकी महत्ता प्रतिपादित की तथा उन्हें कला-फलकों में प्रतिष्ठित किया। जैन मङ्गल चिह्न जैन साहित्य और जैनकला दोनों में पाए जाते हैं।

देशभर में जैनधर्म के प्राचीनतम अवशेष मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुए हैं। यहाँ से प्राप्त सामग्री में केवल शिलापट ही हमारे लिए विवेच्य हैं, क्योंकि इन्हीं पर माङ्गलिक चिह्न उत्कीर्ण है। अर्हतों की पूजा के लिए (अर्हत् पूजाये) निर्मित और स्थापित ये शिलापट्ट 'आयागपट्ट' नागार्जुन कोण्ड के बौद्ध "आयकखम्भ" और नागरी (राजस्थान) की ब्राह्मणधर्मी नारायण वाटिका की 'पूजा-शिला' के समान मात्र पूजा के लिए थे, उसका वास्तुगत कोई उपयोग न था। उ.प्रे. शाह औपपातिकसूत्र

सूत्र-5 में उल्लिखित 'पुहुमी' अथवा 'पुढवी' (पृथिवी) पटों को मथुरा के आयागपटों का प्रारूप मानते हैं। जो ग्रामीण लोक देवताओं, यक्षों और नागों के लिए पवित्र वृक्षों के नीचे किसी छोटे चबूतरे पर रक्खा जाता होगा। कंकाली टीले से प्राप्त इन आयागपटों में कुछ पर केवल कतिपय मङ्गल चिह्न उत्कीर्ण हैं और कुछ अन्य पर इन माङ्गलिक चिह्नों के बीच तीर्थंकर की बैठी प्राथमिक प्रतिमा भी अंकित है। ये आयागपट्ट वस्तुतः उस संक्रमणकाल के साक्षी हैं जब प्रतीक पूजा से मूर्तिपूजा का विकास हो रहा था, ऐसे आयागपट मथुरा के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान से नहीं मिले हैं।

मुख्यतः मथुरा से प्राप्त आयागपट्टों पर उत्कीर्ण विभिन्न मङ्गल चिह्नों का संक्षिप्त विवरण और नन्द्यावर्त तथा स्वस्तिक के सम्बन्ध में व्याप्त कतिपय भ्रमात्मक विचारों का विश्लेषण विशेष रूप से इस लेख में द्रष्टव्य है। इसके अतिरिक्त वर्धमान, भद्रासन, कलश, मतस्य-युग्म, दर्पण, चक्र, पुष्पपात्र, रत्नपात्र आदि मङ्गल चिह्नों का शोधपूर्ण परिचय भी बताया गया है। आलेख वाचन के साथ-साथ आलेख के साथ संलग्न मङ्गल चिह्नों के चित्र भी दिखाये गये।

चतुर्थ आलेख डॉ. वी.के. शर्मा जी ने "मथुरा में जैनधर्म" विषय पर प्रस्तुत किया। सूत्र के समापन में पूज्य उपाध्यायश्री ज्ञानसागर महाराज जी का मङ्गल उद्बोधन हुआ। प्रस्तुत हैं उसके मुख्य अंश-

आज अपने पुराने सांस्कृतिक और पुरातत्त्व को समझना बहुत जरूरी है। समाज की रुचि सांस्कृतिक कार्यक्रमों में अधिक है। वह उसमें लाखों रुपये तक खर्च कर देती है। किन्तु पुरानी मूर्तियों को संभालने की रुचि उसमें नहीं है। मैं उदयगिरि खण्डगिरि के जङ्गलों से गुजर रहा था, रास्ते में स्थिति देखी, तो मन रोने लगा, हृदय दुखी हो गया। हमारे पूर्वजों ने किस-किस भावनाओं से इनका निर्माण करवाया था, आज हम उन्हें संभाल भी नहीं पा रहे हैं। समाज में आज भी अनेक भामाशाह हैं, जो इन मूर्तियों की साज-संवार कर सकते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि हमारे पूर्वजों ने मूर्तियाँ बनवाने में कसर नहीं छोड़ी आज हम उसे मात्र संभालने में इतना सोचते-विचारते हैं? आज समाज को सचेत होना ही पड़ेगा, नहीं तो हमारा वैभव दिन-प्रतिदिन नष्ट होता जायेगा।

अन्त में संगोष्ठी संयोजक डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी' जी ने आगामी सत्र में पढ़े जाने वाले आलेखों की पूर्व सूचनायें दीं तथा आभार ज्ञापन किया।

रात्रि में प्रो. आर.सी. शर्मा ने स्लाइड के माध्यम से प्रोजेक्टर पर मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त विभिन्न प्राचीन स्तूपों, आयागपट्टों, मूर्तियों आदि से सम्बन्धित अनेक चित्रों का परिचय अत्यन्त सरल भाषा में देकर उपस्थित शताधिक पुरुषों महिलाओं एवं बालकों को जैन संस्कृति के वैभव से परिचित कराया।

संगोष्ठी के तृतीय सत्र में प्रथम आलेख सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में जैनदर्शन विभाग के अध्यक्ष डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी' ने 'मथुरा का सुप्रसिद्ध आन्दोलन और उसका प्रभाव' विषय पढ़ा। प्रस्तुत हैं उसके प्रमुख अंश–

जैन-परम्परा में लगभग दो हजार वर्ष पूर्व मथुरा का 'सरस्वती आन्दोलन' विश्व इतिहास की एक ऐसी अद्भुत घटना है, जिसकी मिसाल अन्यत्र दुर्लभ है। यह कोई बीसवीं सदी के राजनैतिक आन्दोलनों जैसा आन्दोलन नहीं था, अपितु श्रुतज्ञान की धारा को अविच्छिन्न बनाये रखने, उसके संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार के प्रति आचार्यों, विद्वानों एवं तत्कालीन विशाल जनसमुदाय की जागरुकता, प्रगतिशीलता, समर्पण एवं आस्था का प्रतीक आन्दोलन था। जिसने इस श्रुत सम्पदा की रक्षा के लिए एक क्रान्ति की और इसी की प्रतिबद्धता का जीता-जागता उदाहरण माँ जिनवाणी, श्रुतदेवी स्वरूपा पुस्तक (शास्त्र) धारिणी सरस्वती देवी की प्रतिमायें बनवाकर प्रतिष्ठित की और ज्ञान की इस देवी को अपने आन्दोलन की अधिष्ठात्री बनाया। मथुरा के जैन साधु ही इस क्रान्ति रूप, आन्दोलन के पुरस्कर्त्ता, प्रवर्तक एवं आद्यवेत्ता थे, जिन्होंने मूर्तियाँ अन्यान्य स्मारक, विविध कलाकृतियाँ बनवाकर उनपर शिलालेख का अंकन प्रारम्भ करके इस आन्दोलन को सक्रिय किया। यदि मथुरा के उस कंकाली टीले के उत्खनन से सन् 132 की शिलालेख युक्त जैन सरस्वती की यह मूर्ति न मिलती तो सम्भवतः इस सारस्वत अभियान स्वरूप इस महान् और प्रथम सरस्वती आन्दोलन का विश्व की इस प्रथम उद्भुत घटना का पता ही नहीं चलता। मूर्तांकन रूप में शिलालेख एवं

तिथि के उल्लेख सहित भारत की सर्वाधिक प्राचीन जैन सरस्वती की मूर्ति निर्माण एवं प्रतिष्ठा करने का प्रथम श्रेय मथुरा को प्राप्त हैं। इसके बाद जैन परम्परा में ही नहीं अपितु वैदिक एवं बौद्ध परम्पराओं में भी सरस्वती की मूर्तियों का मूर्तांकन प्रारम्भ हुआ। पल्लू (बीकानेर) तथा लाडनूं (राजस्थान) के दिगम्बर जैन मन्दिर तथा अन्यान्य क्षेत्रों से प्राप्त सरस्वती की सुप्रसिद्ध जैन मूर्तियाँ सौन्दर्य और शिल्प के अद्वितीय उदाहरण हैं।

लाडनूं के जैनमन्दिर में सुरक्षित एक ही श्वेत पाषाणफलक पर दिगम्बर परम्परा सम्मत सोलह विद्यादेवियों का दुर्लभ मूर्तांकन मिलता है।

डॉ. कमलेश कुमार जैन ने प्राचीन मूर्तियों की रक्षा के सन्दर्भ में कुछ महत्त्वपूर्ण उपाय सुझाये। उसमें से निम्न बिन्दु प्रमुख थे-

1. मूर्ति चोरी रोका जाना, 2. मूर्ति भञ्जन रोका जाय, 3. प्राचीन मूर्तियों का अभिषेक रोककर उनकी सुरक्षा की जाय, 4. प्राप्त अवशेषों को संरक्षित किया जाय।

जयपुर के डॉ. रतनचन्द्र अग्रवाल ने विमर्श करते हुए निम्न महत्त्वपूर्ण बातें कहीं- भारतीय मन्दिरों से मूर्ति चोरी की घटना दिन प्रतिदिन बढ़ रही है। विदेशों में इनकी कीमत करोड़ों रुपयों में हैं। मूर्ति तस्करी के रूप में मानो आज हम अपनी माँ को बेच रहे हैं। मूर्ति तस्करी अपनी माँ को बेचने जैसा कार्य है। डॉ. अग्रवाल ने सम्पूर्ण जैन समाज से निम्न कार्यों हेतु निवेदन किया-

1. अपने मन्दिर की सभी मूर्तियों की फोटो खिचवा लें, उन पर लिखित शिलालेखों आदि के विवरण का रिकार्ड रखें।
2. इन सभी को फोटो, विवरण सहित एक स्मारिका के रूप में प्रकाशित कर लें तथा उनका पञ्जीयन करायें। सौ वर्ष पुरानी प्रत्येक अवशेष पुरातात्विक महत्त्व के माने जाते हैं।

प्रायः देखा गया है कि हमारे मन्दिरों से मूर्तियाँ चोरी हो जाती हैं और हमारे पास एफ.आई.आर. दर्ज कराने के लिए प्रमाण भी नहीं

रहता। अतः मन्दिरों की सभी अमूल्य मूर्तियाँ तथा अन्य पुरातत्त्व महत्त्व की वस्तुओं का पञ्जीयन कराना चाहिए।

मथुरा संग्रहालय के निदेशक डॉ. जितेन्द्र कुमार ने उपाध्यायश्री की प्रेरणा से मथुरा कंकाली के संरक्षण हेतु चल रही योजनाओं की स्थिति से अवगत करवाया तथा प्रगति विवरण दिया।

सत्र के समापन में पूज्य उपाध्याय मुनिज्ञानसागर जी महाराज का मङ्गल उद्‌बोधन हुआ। जिसके प्रमुख अंश प्रस्तुत हैं-

पुरातत्त्व की सुरक्षा के मामले में भारतीय अभी भी नींद में सो रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय गिरोह मूर्ति चोरी का काम करते रहते हैं। सौ नये मन्दिर बनवाने का उतना महत्त्व नहीं है जितना एक प्राचीन मन्दिर की सुरक्षा करने का है। कला को कलाकृति/कलाकार की दृष्टि से देखना चाहिए न कि हिन्दू, जैन, श्वेताम्बर, दिगम्बर दृष्टि से। प्राकृत भाषा को सुरक्षित रखने के लिए अभियान चलाना चाहिए, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को कहना चाहिए कि वह प्राकृत भाषा को पूर्ववत् जारी रखे क्योंकि यदि यह भाषा पढ़ने वाले नहीं रहेंगे तो भविष्य में प्राकृत भाषा के शिलालेखों एवं शास्त्रों को पढ़कर कौन बतायेगा?

चतुर्थ सत्र में प्रथम आलेख काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विभाग के डॉ. हरिहर सिंह का 'मथुरा के स्तूपों के वेदिका स्तम्भ' विषय पर था। डॉ. सिंह किन्हीं कारण से उपस्थित नहीं रह सके अतः उनके पत्र का वाचन प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा जी ने किया।

द्वितीय आलेख राज्य संग्रहालय, लखनऊ के पूर्व निदेशक डॉ. शिव दयाल त्रिवेदी ने 'मथुरा में स्तूप का सूत्रपात' विषय पर पढ़ा। आपने प्रोजेक्टर फिल्म के माध्यम से अनेक स्तूपों, शिलालेखों, तथा मूर्तियों के बारे में खोजपूर्ण जानकारी दी।

तृतीय आलेख राजकीय मथुरा संग्रहालय के निदेशक डॉ. जितेन्द्र कुमार ने 'गुप्तकालीन जैन मूर्तियों' पर प्रस्तुत किया। पं. उत्तमचन्द जी राकेश ने अपने अभिमत में ललितपुर के पास देवगढ़ में हजारों प्रतिमायें उपलब्ध होने के कारण उनके ऊपर भी संगोष्ठी आयोजित करने की बात कही।

प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा ने मानव संसाधन विकास मन्त्रालय व पुरातत्त्व निदेशकों के साथ मुनिश्री के सान्निध्य में एक उच्च स्तरीय बैठक के आयोजन की बात कही, ताकि पुरातत्त्व के उद्धार का कार्य अधिकार पूर्वक किया जा सके। विशेषकर मथुरा के कंकाली टीले को पर्यटक स्थल के रूप में विकसित करने के उपायों पर विचार प्रस्तुत किये। उन्होंने कहा कि प्राचीन पुरातत्त्व के महत्त्वपूर्ण स्मारकों, मन्दिरों को पर्यटक स्थल के रूप में नहीं वरन् सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में विकसित होना चाहिए। उसे कलातीर्थ बनाना चाहिए। जयपुर के डॉ. अग्रवाल ने कहा कि हमें जैन साहित्य से भी पूरी सहायता लेनी चाहिए, क्योंकि मूल सन्दर्भ लिये बिना भी पुरातत्त्व का सही निर्धारण नहीं किया जा सकता। डॉ. क्रान्ति कुमार ने पुनरुद्धार समितियाँ बनाने की बात कही ताकि धन एक जगह एकत्रित हो जाये। डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी' ने कहा कि जैन समाज ने सदा देना जाना है, लेना नहीं। पुरातत्त्वविद् बड़े संयोग से मिलते हैं। अतः वे सभी एकत्रित होकर इसे ठोस क्रियान्विति प्रदान करें। डॉ. कस्तूरचन्द सुमन ने कहा कि हम जिस विषय पर गोष्ठी आयोजित करें वह उसी क्षेत्र में हो तो ज्यादा लाभ होगा।

समारोह के मुख्य अतिथि जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर के कुलपति डॉ. लक्ष्मण सिंह राठौड़ ने कहा कि मैं जैनधर्म के सिद्धान्तों से काफी प्रभावित हूँ। जैनधर्म की मूल विशेषता है उसकी दूरदृष्टि। यदि जैनधर्म में दूरदृष्टि नहीं होती तो वह सहस्राब्दियों तक चलता नहीं। अन्त में अपने मङ्गल उद्बोधन में पूज्य उपाध्यायश्री जी ने कहा कि वर्तमान में छात्रों को पुरातत्त्व के विषय में रुचि कम है। शिक्षापद्धति में व्यसनमुक्ति, शाकाहार तथा नैतिकता के साथ-साथ पुरातत्त्व की भी अनिवार्य शिक्षा होनी चाहिए ताकि देश का प्रत्येक नागरिक अपने सांस्कृतिक वैभव को पहचाने।

अन्त में सभी विद्वानों का सम्मान किया गया। गोष्ठी के संयोजक डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी' ने गोष्ठी परामर्शक प्रो. रमेशचन्द शर्मा जी तथा संयोजन में सहयोग हेतु प्रो. सुशील पाटनी का आभार ज्ञापित किया।

सभी विद्वानों ने केसरगंज, अजमेर की जैन समाज के आत्मीय आतिथ्य, तथा व्यवस्था की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

भव्य चित्र प्रदर्शनी

द्विदिवसीय गोष्ठी का यह प्रमुख आकर्षण था। 'पुरातत्त्व शिल्प कोष कंकाली' विषय पर आयोजित 'विशेष चित्र प्रदर्शनी' का परिचय प्रो. रमेशचन्द शर्मा जी के निर्देशन में आयोजित यह चित्र प्रदर्शनी मथुरा के प्राचीन जैन स्थल कंकाली के सांस्कृतिक व शिल्प वैभव का परिचय देती थी। चित्र-प्रदर्शनी के साथ प्रदर्शनी का परिचय भी दर्शकों को वितरित किया गया। शास्त्रीय-परम्परा से तो मथुरा का जैनधर्म में भगवान् ऋषभनाथ के समय से सम्बन्ध स्थापित होता है। उनके समय जिन 52 राज्यों का निर्माण हुआ उनमें शूरसेन भी एक था और मथुरा उसकी राजधानी थी। इसे अर्हन्त प्रतिष्ठित, चिरकाल प्रतिष्ठित कहकर सम्मान व्यक्त किया गया है। सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ को यहाँ विशेष रूप से पूज्यभाव से अपनाकर उनकी स्मृति में रत्नजड़ित स्तूप बनवाया गया। चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ जी की पूजा में एक स्तूप बनाए जाने का उल्लेख है। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ जी या अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के ताऊ समुद्रविजय के पुत्र थे। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ जी के समय सुपार्श्वनाथ जी की स्मृति में बनाये स्तूप का पुनरुद्धार हुआ। अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी के मथुरा पधारने का भी उल्लेख है। साथ ही अन्तिम केवली जम्बूस्वामी ने यहाँ से कैवल्य व मोक्ष प्राप्त किया। सूत्रसाहित्य में मथुरा को दस प्रमुख राजधानियों में माना है।

जिनवाणी रूप शास्त्रों को लिपिबद्ध करने एवं उनकी सुरक्षा करने के लिए सरस्वती आन्दोलन मथुरा से प्रथमशती में आरम्भ हुआ। सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति जो दूसरी शती ई. के प्रथम भाग की है, कंकाली टीले से मिली अङ्गसाहित्य को व्यवस्थित करने के लिए चौथी शती ई. में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में माथुरी वाचना हुई। इस प्रकार मथुरा का जैनधर्म से प्रगाढ़ सम्बन्ध होने के अनेक कारण हैं। थल व जल मार्ग (यमुना द्वारा) दोनों से सम्बद्ध होने के कारण इसकी समृद्धि बहुत बढ़ी और श्रेष्ठियों ने धनार्जन के साथ अनेक धार्मिक कार्य सम्पन्न किये तथा अपनी रुचि के अनुसार देवस्थलों का निर्माण किया। जैन समाज ने इस दिशा में विशिष्ट योगदान दिया। कंकाली के प्रसिद्ध स्तूप के निर्माण की यही गौरवशाली पृष्ठभूमि थी। यह स्थल मथुरा नगर के

पश्चिमी भाग में है। बी.एस.ए. कालेज व भूतेश्वर चौराहे के बीच है और भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा संरक्षित भी है। डॉ. विन्सेन्ट स्मिथ ने इसे 500 फिट व 350 फिट चौड़ा बताया है। टीले पर वर्तमान में कंकाली देवी के मन्दिर के कारण इसे कंकाली टीला कहते हैं।

इस स्तूप की अनेक विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं- 1. जैनधर्म का यह प्राचीनतम तथा एकमात्र स्तूप है। 2. इसके विकास के कई चरण दृष्टिगोचर होते हैं। 3. स्तूप से प्राप्त अवशेषों से ई. पू. दूसरी शती से 12 वीं शती ई. तक जैन मूर्ति कला के विकास का अध्ययन सुलभ है। अन्यत्र कहीं ऐसा क्रमिक विकास नहीं मिलता। 4. वस्तुतः स्तूप तो कुषाण काल तक बनता रहा। कालान्तर मे समीपस्थ जिनालय या देवायातन निर्मित हुए। जिनमें मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गई हैं। 5. स्तूप से प्राप्त मूर्ति अभिलेख तत्कालीन समाज और विशेष रूप से जैन संगठन के अनुशीलन के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। 6. प्राचीन वस्तु संरचना के स्वरूप को समझने के लिए कंकाली के जैन स्तूप का विशिष्ट स्थान है। 7. भारतीय मूर्ति शिल्प, कला सौन्दर्य, शोभा, प्रतीक, कंकाल चिह्न आदि का अनुलेखन विलक्षण है। 8. रायपसेणिय का वर्णन स्तूप की रचना व वैभव से बहुत मिलता है। 9. स्तूप जो काल गति से टीले के रूप में परिवर्तित हो चुका था उसका उत्खन लखनऊ संग्रहालय के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. फ्यूहर ने 1888-91 में किया और लगभग आठ सौ मूर्तियाँ व वास्तु अवशेष लखनऊ संग्रहालय को भेजे। कुछ कलारत्न भारत तथा विदेशी संग्रहालयों में दिखाई पड़े। 10. आवश्यकता है कि इस अद्भुत जैन स्मारक को पुनः प्रकाश में लाया जाये विस्तृत सचित्र सूचीपत्र बने और स्थल की प्राक्तन कीर्ति पुनः स्थापित हो। इस प्रकार मथुरा के स्थल से प्राप्त अवशेषों के चित्रों की यह प्रदर्शनी कंकाली स्तूप के सांस्कृतिक वैभव का परिचय प्रदान करती थी। दुर्लभ चित्रों के संकलन में डॉ. फूलचन्द जैन 'प्रेमी' का बहुत योगदान रहा। प्रदर्शनी को सजाने में कुमार अनेकान्त जैन का सहयोग सराहनीय रहा। सभी विद्वानों तथा दर्शकों ने प्रदर्शनी की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

विषय प्रवर्तन एवं सम्बोधन

मथुरा का जैन स्तूप-सांस्कृतिक वैभव

प्रो. रमेश चन्द्र शर्मा*

मथुरा में कंकाली स्थल पर पुराकाल में निर्मित स्तूप भारतीय संस्कृति का विश्वकोष था। अतीत के गर्भ में विस्मृत, विलुप्त एवं विलुण्ठित इस महान् सांस्कृतिक केन्द्र के अवशेष समय-समय पर विद्वानों एवं पुरासमीक्षकों के माध्यम से गौरव गाथा सुनाते तो रहे हैं; किन्तु आज तक हम इस अद्वितीय निधि का उचित मूल्यांकन नहीं कर सके हैं। इस विषय पर निबन्ध, शोध-प्रबन्ध, विस्तृत समीक्षाएँ सूची-पत्र आदि एक शताब्दी से अधिक समय से लिखे व प्रकाशित होते रहे हैं। व्याख्यान, परिचर्चा तथा गोष्ठियों का भी आयोजन हुआ है। किन्तु ये सभी प्रयास सराहनीय होते हुए भी अपूर्ण सिद्ध हुए हैं और यही देव निर्मित स्तूप की दिव्यता है। हम अभी तक "प्रांशु लभ्ये फले लोभाद् उद्बाहुरिव वामनः" के अनुसार उन वामनकों अर्थात् बौनों के रूप में खड़े रहे हैं, जिनका भारतीय कला में प्रचुर अंकन है और ह्रस्व होने पर भी वे प्रशंसनीय हैं।

श्रद्धेय उपाध्याय महाराजश्री ज्ञानसागर जी की प्रेरणा से आज एक और विचार यज्ञ अजमेर के जैन बन्धुओं ने आयोजित किया है और हम महाराज जी का नमन और समस्त आयोजक महानुभावों के प्रति साधुवाद की अभिव्यक्ति करते हैं। जैन मुनियों का संचरण, विहार-अवस्थान एवं चातुर्मास सभी ज्ञान के प्रति समर्पित प्रक्रिया के विभिन्न रूप हैं। वीतराग और नितान्त अपरिग्रही महात्माओं का एक ही धन है- तपस्या से अर्जित विद्या। उसकी निरन्तर वृद्धि, निरन्तर दान।

---

*. पूर्व निदेशक, भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं मानद् निदेशक, ज्ञान प्रवाह, सामने घाट, वाराणसी-5.

इसी के फलस्वरूप मुनियों से सम्बन्धित स्थल विद्या के विपुल केन्द्र या सरस्वती भण्डार के रूप में विकसित हुए। यह परम्परा शताब्दियों-सहस्राब्दियों से अविच्छिन्न रही है और आज भी हमारे लिए प्रत्यक्ष है। आवश्यकचूर्णि के अनुसार जहाँ जैन मुनि जाते थे अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से वह स्थानों का निरीक्षण करते थे। इसे **जनपद परीक्षा** कहा गया है। विधि-विधान विकल्प, नेपथ्य, शास्त्र आदि उनकी परीक्षा के क्षेत्र थे। वे अनेक भाषाओं के ज्ञाता भी होते थे। मथुरा का भी विस्तार से विवरण है। अग्नि की पूजा पहले से होती रही है और आगे भी होती रहेगी "अग्नि पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यो नूतनैरुत" की वैदिक सूक्ति सर्वकालीन युक्तियुक्त है। हां, स्वरूप बदला है पावकयज्ञ का स्थान विचारयज्ञ ले चुके हैं। वैसे अग्नि ऊष्मा व प्रकाश का प्रतीक है और अरणि-मन्थन की अपेक्षा विचार-मन्थन करने से हमें ज्ञान का प्रकाश तथा प्रेरणा की उष्मा प्राप्त होती है।

वैसे भी जिस प्रसंग को आधार मान कर हम यहाँ एकत्र हुए हैं अर्थात् स्तूप की चर्चा वह अग्नि का ही रूपान्तरण है। तीर्थंकरों, महान् सन्तों आदि की स्मृति में निर्मित स्तूप उनके द्वारा अर्जित कैवल्य-सा विशुद्ध परम ज्ञान का स्मरण दिलाते थे और नवीन पीढ़ी अर्थात् नूतन ऋषि या मुनि स्तूप के धातु गर्भ में प्रतिष्ठित महान् आत्मा के ज्ञानालोक से स्वयं का मार्ग आलोकित करते हैं। स्तूप का अर्थ चैत्य भी है जो चिति अथवा चिता से उद्भुत भस्मावशेषों पर स्थापित होता है। अतः चैत्य की पृष्ठभूमि में चिताग्नि ही विद्यमान है। इस दृष्टि से अग्नि, स्तूप, चैत्य, चिता, प्रकाश और ज्ञान सभी एक परम सत्य का उद्‌घाटन करते हैं। ऐसे स्मारक के दर्शन से अन्धकार का निवारण, ज्ञान का विकास और कर्त्तव्य की उष्मा प्राप्त होती थी।

मथुरा के पाण्डित्य के उत्कर्ष का संकेत मिलता है– सरस्वती की प्राचीनतम प्रतिमा से, माथुरी वाचना से और सरस्वती आन्दोलन से। ज्ञान या प्रकाश आनन्द का स्रोत है और परम या कैवल्य ज्ञान परम प्रकाश परम सुख या आत्यन्तिक सुख की निधि। यही कारण है कि केवलियों या जिनों का देह त्याग एक औपचारिक लीला थी वह विषाद का कारण नहीं था। वस्तुतः ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर ही वे जीवन मुक्त

हो चुके थे। अब तो उन्हें मात्र बाह्य कञ्चुक का परित्याग करना शेष था। वैसे भी दिगम्बर मुनि की शरीर के मोह से उच्चावस्था में स्थिति मानी गई है। देह त्याग का कोई विशेष महत्त्व नहीं; किन्तु शरीर व्यवहार से भी उन्हें मुक्ति मिली अतः परिनिर्वाण की यह अवस्था एक और उपलब्धि मानी गई। यह घटना दुःख की नहीं अपितु प्रसन्नता की सूचक थी। यही कारण है कि उनके अवशेषों पर बने चैत्य, स्तूप, समाधि अथवा अन्य स्मारक प्रकाश व आनन्द के संवाहक मांने गये। कुछ अवसर विशेष पर तो इन्हें असंख्य दीपों से प्रज्वलित भी किया जाता था और दूर से वे अग्नि या प्रकाशस्तम्भ की भाँति देदीप्यमान लगते थे।

यही नहीं, इन्हें और अधिक रोचक बनाने के लिए आमोद-प्रमोद के अनेक दृश्यों से उत्कीर्ण किया गया। शनैः-शनैः पूजा के साथ इन्होंने स्थलों का भी स्थान ले लिया और तात्कालिक सामाजिक जीवन के प्रतिबिम्ब के रूप में इनका विकास हुआ। यह धारणा कि चैत्य या स्तूप श्मशान और दुःख का प्रतिनिधित्व करते हैं, सर्वथा निर्मूल है। वस्तुतः ये पवित्र स्थान देह के अवसान के साथ अज्ञान और दुःख के अवसान के प्रतीक हैं, दुःखों से निवृत्ति ही सुख का प्रारम्भ है। शरीर या लोक सुखवादियों अथवा भोगवादियों के लिए शरीर त्याग अकल्पनीय होता है क्योंकि उनके लिए वही सुख का आधार है; किन्तु जो अतीन्द्रिय सुख में निष्ठा रखते हैं उनके लिए शरीर का मोह अप्रासंगिक है। मथुरा का जैन स्तूप हमें इसी परम सुख की प्राप्ति की प्रेरणा देता है और वह हर्ष का प्रतीक रहा, विषाद का नहीं। स्तूप व चैत्य के अतिरिक्त वास्तु वैभव के अन्य नाम थे पासाद, आयतन, देवकुल, विहार आदि और ये अन्य धर्मों में भी प्रचलित थे।

जैनधर्म का मथुरा से सम्बन्ध

मथुरा नगरी भारत के धार्मिक तथा आध्यात्मिक चिन्तन का केन्द्र रही है। अन्य धर्मों के साथ जैन मतावलम्बियों ने भी इसे सदा से पुनीत स्थल माना है। प्राचीनतम जैन साहित्य अंगसूत्रों के ज्ञातासूत्र में मथुरा का उल्लेख द्रौपदी-स्वयंवर के प्रसंग में हुआ है। तत्पश्चात् उपांगसूत्रों के पन्नवणा(प्रज्ञापना)-सूत्र में 25 आर्यदेशों में शूरसेन व मथुरा का वर्णन है। 5 वीं शती के वसुदेवहिण्डी प्राकृत कथा ग्रन्थ के श्यामाविजयलम्भक

में कंस का आख्यान है। महापुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के आदेश से इन्द्र ने जिन 52 राज्यों की सृष्टि की उनमें शूरसेन राज्य भी था जिसकी राजधानी मथुरा थी। जैन हरिवंशपुराण में शूरसेन राज्य को भारत के 18 महाराज्यों में बताया है। निशीथ व ठाणांगसूत्र में मथुरा की गणना भारत की 10प्रमुख राजधानियों में है। इसे अर्हन्त प्रतिष्ठित, चिरकाल प्रतिष्ठित, आदि उपाधियों से सम्मानित किया है। अन्य 'आरिय' स्थान थे चम्पा, वाराणसी, हस्तिनापुर, श्रावस्ती, साकेत, काम्पिल्य, कौशाम्बी, मिथिला व राजगृह।

सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ जी के जीवन की कोई घटना यहाँ घटित हुई होगी तभी उनकी स्मृति में प्राचीनतम स्तूप की रचना हुई। 14 वें तीर्थंकर अनन्तनाथ जी की पूजा में भी एक स्तूप बनाए जाने की किंवदन्ती है। जिनसेनाचार्य का मत है कि 22 वें तीर्थंकर नेमिनाथ अथवा अरिष्ट नेमी श्री कृष्ण के ताऊ समुद्र विजय के पुत्र थे। जिनका राज्य शौरिपुर बटेश्वर जिला आगरा में था। नेमिनाथ जी व श्री कृष्ण सम्बन्धी अनेक घटनाओं का जैन हरिवंशपुराण में उल्लेख है इसके साथ ही बलराम तथा श्रीकृष्ण के साथ अंकित नेमिनाथ जी की प्राचीन मूर्तियाँ भी इस कथानक की पुष्टि करती हैं। परम्परा यह भी है कि 23 वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ जी का व्रज भूमि से प्रत्यक्ष सम्पर्क रहा, क्योंकि सर्पफणों से आच्छादित उनकी अनेक प्रतिमाएं मथुरा के उत्खननों से प्राप्त हुई हैं; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि सुपार्श्व तथा पार्श्व के ध्वनि साम्य ने कुछ भ्रान्ति उत्पन्न कर दी है अन्यथा पर्श्वनाथ जी का कार्य क्षेत्र बिहार व उत्तर प्रदेश का पूर्वी अञ्चल ही था।

24 वें और अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर ने भी व्रज में विहार किया था उस समय यहाँ का राजा उदितोदय अथवा भीदाम था जिसने न केवल महावीर जी का स्वागत सत्कार किया अपितु उनसे दीक्षा भी ली। आवश्यकचूर्णि में उल्लेख है कि जनपद के दो राजकुमार कंवल और शंवल उनकी सेवा सुश्रूषा करते थे। नगर के प्रसिद्ध श्रेष्ठी जिनदत्त के पुत्र अर्हद्दास को भगवान् महावीर ने दीक्षित किया। तदनुसार अन्य व्रजवासियों का जैनधर्म की ओर झुकाव हुआ। अर्हद्दास के समय मथुरा में शरद् पूर्णिमा चांदनी में कौमुदी महोत्सव का आयोजन होता था जिसमें

नगर की समस्त स्त्रियाँ भाग लेती थीं। ग्रन्थ में मथुरा को "उत्तर महुरा" भी कहा है और इसका दक्षिण महुरा (मदुराई) से व्यापार बताया है। आचारंगचूर्णि में मथुरा को थल पट्टन बताकर यहाँ की व्यापारिक समृद्धि का संकेत दिया है। बृहत्कल्पभाष्य में इसे वस्त्र उद्योग का केन्द्र बताया है। सार्थवाहों के लिए यह नगर बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ होगा और उन्होंने अपने सम्मान की अभिव्यक्ति के लिए समृद्धि का कुछ अंश नगर के विकास और पुण्यार्जन में अवश्य लगाया जिसके फलस्वरूप अनेक धर्म स्थानों का निर्माण हुआ। हरिषेण ने अपने बृहत्कथा कोष (कथा 2) में विवरण दिया है कि यहाँ अनेक ऊंचे व विशाल जैन मन्दिर थे और बड़ी संख्या में गाएँ थीं- 'पुरी गोधनसंकुलाम्'।

जैनधर्म के इतिहास में मथुरा का आदरणीय स्थान होने का और कारण यह है कि महावीर जी के पट्ट शिष्य सुधर्माचार्य के उत्तराधिकारी जम्बू स्वामी ने न केवल यहाँ निवास किया अपितु कैवल्य तथा मोक्ष प्राप्त कर मथुरा को सदा के लिए सिद्धपीठ बना दिया। आज भी उनकी स्मृति में चौरासी का स्थान जैनियों के लिए पुण्यतीर्थ है जहाँ जैन मुनि विहार के लिए आकर श्रोताओं और दर्शकों को सदुपदेश से लाभान्वित करते हैं। आवश्यकचूर्णि से ज्ञात होता है कि आर्य रक्षित ने मथुरा में भूतगुहा नामक चैत्य में विहार किया और आर्यमंगु देहावसान के पश्चात् निद्धवण यक्ष बने।

जैन आगमों को लिपिबद्ध करने के लिए प्रसिद्ध सरस्वती आन्दोलन का सूत्रपात मथुरा से ही हुआ और शनैः-शनैः समस्त भारत में व्याप्त हो गया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप प्रथम शताब्दी ई. से ही ग्रन्थों का प्रणयन आरम्भ हो गया और अब जैन साहित्य का विपुल भण्डार उपलब्ध है। चौथी शताब्दी में अंग साहित्य को सुव्यवस्थित करने के लिए आर्य स्कंदिल की अध्यक्षता में यहाँ एक सभा हुई जिसे माथुरी वाचना कहते हैं (नन्दी चूर्णी) बृहत्कल्पभाष्य में उल्लेख है कि व्रज के 96 गांवों में अर्हतों की मूर्तियां स्थापित की जाती थीं और शुभ चिह्नों का अंकन होता था इनका उद्देश्य भवनों को स्थायित्व प्रदान करना था।

14 वीं शताब्दी में जिनप्रभसूरि द्वारा लिखित मथुरापुरीकल्प का निम्नलिखित अंश जैनधर्म के मथुरा से सम्बन्ध की सुन्दर व्याख्या करता है-

इस मथुरा नगरी में भावी तीर्थंकर कृष्ण वासुदेव ने जन्म लिया था। आचार्य आर्यमंगु भूत यक्ष, हुंडिय यक्ष और चौरजीव के यहाँ देवालय हैं। यहाँ पाँच स्थल है अक्क स्थल, वीर स्थल, पद्म स्थल, कुश स्थल और महास्थल। यहाँ बारह वन हैं- लौह जंघवन, मधुवन, बिल्वन, तालवन, कुमुदवन, वृन्दावन, भण्डीरवन, खदिरवन, काम्यकवन, कौलवन, बहुलावन और महावन। यहाँ पाँच लौकिक तीर्थ हैं- विश्रान्तिक तीर्थ, असिकुण्ड तीर्थ, बैकुण्ड तीर्थ, कालिञ्जर तीर्थ और चक्रतीर्थ। यहाँ वर्द्धमान के जीव अपरिमित बल संयुक्त विश्वभूति का अन्त हुआ था। यहां यमुना में वंक यमुन राजा के उपसर्ग से दण्ड नामक अनगार केवल ज्ञान को प्राप्त होकर इन्द्र द्वारा पूजित हुए थे। यहां राजा जितशत्रु के पुत्र काल वेशित मुनि ने अर्शरोग से पीड़ित होकर मुग्दलगिरि में उपसर्ग सहन किया था। यहां शङ्खराज ऋषि के तपतेज से प्रभावित होकर गजसुर के सोमदेव ब्राह्मण ने जिन दीक्षा ले ली थी। यहां निवृत्ति नामक राजकन्या को सुरेन्द्रदत्त ने राधा बेध करके स्वयंवर में बरा था। यहां कुबेरदता, उसकी माता कुबेरसेना और भाई कुबेरदत्त को अठारह नातों की कथा से सम्बोधा गया था। यहां श्रुतपारंगत आर्यमंगु ने साधुओं को प्रतिबोधा, कंवल और शंबल जिनदास के संसर्ग से प्रतिबुद्ध होकर नागकुमार हुए, मुनि अग्निकापुत्र ने पुष्पचूल को प्रवर्ज्या ग्रहण कराई, मिथ्यादृष्टि इन्द्रपुरोहित ने पदाघात द्वारा साधु का अपमान किया और पश्चात्तापपूर्वक उनका भक्त हो गया। इन्द्र ने आर्य रक्षित सूरि की वन्दना की। यहां वस्त्र पुष्यमित्र, घृतपुष्यमित्र एवं दुर्बलित पुष्यमित्र नामक ऋद्धिधारी साधुओं ने विहार किया। यहाँ भीषण द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष के समय आर्य स्कंदिल ने संघ को एकत्र करके आगमों का अनुयोग किया। यहां देवनिर्मित स्तूप में एक पक्ष के उपवास द्वारा देवता की आराधना करके जिनभद्रश्रमण ने दीमकों से खाये त्रुटित महानिशीथसूत्र की पूर्ति की। यहां शङ्खराज और कलावती ने पांचवें जन्म में देवसिंह एवं कनक सुन्दरी के रूप में श्रमणोपासक रहकर राज्यश्री का उपभोग किया। इस प्रकार यह मथुरा नगर अनेक पुण्य कार्यों की जन्मभूमि है। यहां नरवाहना कुबेरादेवी,

सिंहवाहना अम्बिकादेवी और सारमेयवाहन क्षेत्रपालतीर्थ की रक्षा करते हैं। विपाकसूत्र में तो भगवान् महावीर का मथुरा आगमन राजा श्रीदाम के समय बताया है।

उपर्युक्त साहित्यिक सन्दर्भ तथा परम्पराओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि तीर्थंकरों, सिद्ध मुनियों तथा आचार्यों की जन्म लीलाओं, विहार, धार्मिक प्रवचन, तपस्या, कैवल्य लाभ तथा मोक्ष प्राप्ति से पुनः-पुनः पवित्रीभूत व्रजभूमि और विशेषरूप से मथुरा नगर जैनियों तथा अहिंसा मार्ग के अनुयायियों के लिए आदि काल से प्रेरणा स्रोत बना रहा है।

कंकाली टीला

स्थितिः- महान् आत्माओं की स्मृति में राजाओं,धनी व्यापारियों तथा जनसामान्य ने अपनी श्रद्धा व सामर्थ्य के अनुसार मथुरा तथा आस-पास अनेक स्मारक, स्तूप, चैत्य, मठ, विहार आदि का समय-समय पर निर्माण किया। काल, गति तथा बर्बर विदेशी आक्रमणों से वे प्राचीन भवन ध्वस्त होकर टीलों के रूप में परिणत हो गये। इनमें मथुरा का कंकाली नामक टीला भारत के प्रसिद्ध पुरातात्विक स्थलों में माना जाता है। यह नगर के पश्चिम की ओर बी.एस.ए. कालेज तथा भूतेश्वर चौराहे के बीच स्थित है। केन्द्रीय पुरातत्त्व विभाग की विज्ञप्ति संख्या 706 एम-एस 110- एम-एस-1927 दिनांक 27 अगस्त 1928 द्वारा यह संरक्षित स्थान घोषित हुआ। सूची में इसकी क्रम संख्या 325 है। वर्तमान समय में कंकाली नामक देवी का छोटा-सा मन्दिर होने से इसे कंकाली बोलते है। इस टीले को डॉ. स्मिथ ने 500 लम्बा और 350 चौड़ा बताया है; किन्तु कनिङ्घम ने 400×300 लम्बाई चौड़ाई दी है। उत्खनन में 47 व्यास का ईटों का स्तूप और दो जैन मन्दिर मिले; किन्तु खुदाई के पूरे नक्शे आदि उपलब्ध नहीं हैं। कंकाली स्तूप का पुरातात्त्विक, सांस्कृतिक व धार्मिक महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि यह एकमात्र उपलब्ध जैन स्तूप है। अन्यत्र बने स्तूपों की अभी तक खोज नहीं हो पाई है। हाँ, बौद्ध स्तूप भारत में अनेक स्थानों पर खोजे गए तथा विद्यमान हैं। यह रहस्य विचारणीय है।

देव निर्मित स्तूप– इस स्थल की कीर्ति का प्रधान कारण था देव निर्मित जैन स्तूप का निर्माण। बृहत् कल्पभाष्य से इसके महत्त्व को आंका जा सकता है। तदनुसार जिस प्रकार धर्मचक्र के लिए उत्तरापथ और जीवन्त स्वामी की प्रतिमा के कारण 'कोशल की प्रसिद्धि है इसी प्रकार देव निर्मित स्तूप से मथुरा प्रसिद्ध है। इसके निर्माण के सम्बन्ध में कुछ किंवदन्तियाँ तथा परम्परायें प्रचलित हैं। इनसे संकेत मिलते है कि देव निर्मित स्तूप के प्रभुत्व के विषय में बौद्ध तथा जैनों में कुछ संघर्ष हुआ; किन्तु अन्त में जैनों का अधिकार स्थिर हुआ (व्यवहारभाष्य) तथापि कुछ समय के लिए बौद्धों का स्वामित्व भी रहा होगा। विविधतीर्थकल्प के अनुसार एक बार धर्म रुचि और धर्म घोष नामक दो जैन आचार्यों ने मथुरा में भूत रमण नामक स्थान पर विहार किया। उनकी साधना से कुबेरा नामक देवी बड़ी प्रसन्न हुई और उन जैन मुनियों की प्रेरणा पर सोने का एक रत्न जड़ित स्तूप प्रगट (निर्मित) कर दिया जो तीन वेदिका तीन छत्रों सहित शिखर, तोरण, माला, जिन बिम्ब, ध्वजा आदि मांगलिक चिह्नों से युक्त था। मुख्य मूर्ति सुपार्श्वनाथ जी की थी। श्री अगरचन्द नाहटा ने मथुरा के जैन स्तूप के सम्बन्ध में कुछ अन्य साहित्यिक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। तदनुसार आचार्य भद्रबाहु की ओघनिर्युक्ति में "चक्के थुभे" को टीकाकार ने स्तूपो मथुरायां से स्पष्ट किया है। 13 वीं शती के प्रभावित चरित्र के पाललिप्त सूरि प्रबन्ध में मथुरा में श्री सुपार्श्व जिन स्तूपऽनमत् वर्णन है। 1317 ई. में आचार्य खरतरगच्छ जितनचन्द्रसूरि के नेतृत्व में जैन संघ की यात्रा निकली जिसमें मथुरा में सुपार्श्व, पार्श्व व महावीर तीर्थंकरों के स्थानों की यात्रा का उल्लेख है। संगमसुरिवृत्त 11 वीं-12 वीं शती के ग्रन्थ तीर्थमाला का यह श्लोक बड़े महत्त्व का है।

मथुरा पुरि प्रतिष्ठितः सुपार्श्व जिनकाल संभवो जयति।
अद्यापि सूराभ्यचर्य श्री देवी विनिर्मितः स्तूपः।।

सुपार्श्व व पार्श्व के सर्वगुणों के आच्छादन प्राचीन काल में मथुरा क्षेत्र में प्रचलित नागपूजा का जैनधर्म से सामञ्जस्य की ओर इङ्गित करते हैं। यक्षों से भी यहां समझौता हुआ होगा और दुर्दशन के स्थान पर सुदर्शन के रूप में पूजे जाने लगे (विवाकसूत्र)। जैन राजा के द्वारा

दण्डनाम के श्रमण को मारना और कालान्तर में स्वयं श्रमण बन जाना इसी रहस्य की पुष्टि करता प्रतीत होता है। आचार्य मंगु अति बुभुक्षा के कारण यक्ष योनि में उत्पन्न हुए।

इसी प्रकार कालान्तर के ग्रन्थों में जैन संघ की मथुरा यात्रा, सुपार्श्व स्तूप तथा अन्य देवस्थानों का वर्णन मिलता है। मान्यता यह है कि सर्वप्रथम एक ही मूल स्तूप था कालान्तर में उनकी संख्या 5 हुई तदनन्तर छोटे छोटे 527 स्तूप बन गए जिनकी पूजा 17 वीं शताब्दी तक होती रही। 1583 ई. में साहु टोडर द्वारा 514 स्तूपों की प्रतिष्ठा की गई। इसके पूर्व आचार्य वप्प भट्टि सूरि 9 वीं शती में ही एक पार्श्व जिनालय स्थापित कर चुके थे और एक महावीर बिम्ब भी भेजा था। ये सब पुण्य कार्य देवनिर्मित स्तूप (कंकाली) या चौरासी के आस पास ही सम्पन्न हुए होंगे।

मथुरा के जैन स्तूप के निर्माण में राज्य का संरक्षण एवं अवदान निश्चित नहीं है कि मुनि एवं आचार्यों की प्रेरणा तथा समृद्ध एवं धर्मप्राण गृहस्थियों के सहयोग से एक हजार वर्ष से अधिक समय तक निर्माण अथवा प्रतिष्ठा कार्य सम्पन्न होते रहे। समय-समय पर प्रतिकूल परिस्थितियां आईं तो जीर्णोद्धार हुआ। अभिलेख 'चतुवणी संघ' के स्पष्टीकरण में साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका का अभिप्राय लेने से कम से कम कुषाण काल से श्रद्धाभिव्यक्ति का इतिहास सृजन होता है। साधुओं के पारिभाषिक शब्द थे गणिन्, श्रद्धचर, वाचक, शिष, शिषनी समन साविका। श्रद्धालुओं के परिचय की पृष्ठभूमि थी, गण, कुल, शाखा व संभोग। गण में बोट्टिय, वारण, ओदेहिर्ना– ये तीन विभाजन थे। कुल में ब्रह्मदासिक, वच्छलिय, ठानीय, पन्तवट्ट थे। शाखा में उच्च नगरीय, वजनागरी आदि के नाम उपलब्ध होते हैं।

प्राचीनतम स्थान– साहित्य तथा अनुश्रुतियों के आधार पर इस स्थल की प्राचीनता सिद्ध करना सम्भव नहीं है; किन्तु पुरातत्त्व ने इस दिशा में हमारा मार्गदर्शन किया है। उत्खनन से प्राप्त कुषाण कालीन एक मूर्ति की पीठ (लखनऊ जे. 20) पर उत्कीर्ण लेख में इसे देव निर्मित वोद्ध स्तूप बताया है। इस महत्त्वपूर्ण मूर्ति लेख को उद्धृत करना आवश्यक है–

पंक्ति 1.. सं. 70 9 व 4 दि 20 एतस्यां पूर्व्वायां कोट्टिये गणे वैरायां शाखाय पंक्ति 2.. को अय वृधहस्ति अरहतो नन्दि (आ) वर्तस प्रतिमं निर्वर्तयति पंक्ति 3 नीचे... भार्य्यये श्राविकाये (दिनाये) दानं प्रतिना वोद्वे थूपे देव निर्मित प्र....

अर्थात् वर्ष 79 की वर्षा ऋतु के चतुर्थ मास के बीसवें दिन कोट्टिय गण की वैर शाखा के आचार्य वद्धहस्ति ने अर्हत् नन्द्यावर्त की प्रतिमा का निर्माण कराया और उन्हीं के आदेश से भार्या श्राविका दिना द्वारा यह प्रतिमा देवनिर्मित वोद्व स्तूप में दान स्वरूप प्रतिष्ठापित हुई।

प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी नन्द्यावर्त के स्थान पर मुनिसुव्रतस पढ़ते हैं। विचार-विमर्श में डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह ने मत व्यक्त किया कि लेख को "प्रतिमावो द्वे थूपे निर्मिते" पढ़ा जाना चाहिए तदनुसार प्रतिमा तथा दो स्तूपों का निर्माण हुआ। कुषाण संवत् में इसे उत्कीर्ण मानने पर मूर्ति का समय 157 ई. आ जाता है। यदि यह काल गणना किसी अन्य संवत् में है तो मूर्ति और प्राचीन मानी जा सकती है। विद्वानों का अनुमान है कि इसे देवनिर्मित बताने का तात्पर्य यह है कि पहली-दूसरी शताब्दी ई. में ही यह स्थान इतना प्राचीन माना जाता था कि इसके निर्माण का इतिहास विस्मृत हो चुका था। अतः इसे देवताओं की कृति माने जाने लगा। उपर्युक्त अनेक साहित्यिक सन्दर्भों के प्रकाश में इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुंचा जा सकता है कि मूर्ति के अभिलेख में वर्णित देव निर्मित स्तूप वही है जिसे देवी कुबेरा ने स्थापित किया था।

लगभग 7वीं शती के हरिभ्रदसूरि ने भी इसे देव निर्मित कहा है इससे ज्ञात होता है कि तब तक लोग इसे मानुषी नहीं मानते थे। दिगम्बर परम्परा में पञ्चास्तूपान्वय मान्यता से यहा पांच स्तूपों की स्थिति बनती है। दसवीं शती के सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चम्पू में स्तूप का निर्माण सोमदत्त के पुत्र वज्रकुमार ने पूतिक वहन के राज्य काल में कराया। इसी ग्रन्थ में मथुरा की रानी उर्विला का नाम है जिसने अष्टाहिक महोत्सव के साथ श्री जिन की रथयात्रा निकाली।

चौदहवीं शती के आरम्भ में जिनप्रभसूरि रचित विविध तीर्थकल्प ग्रन्थ में यह भी उल्लेख है कि पार्श्वनाथ जी के समय मूल सुवर्ण स्तूप

पर ईटों की परिधि बनवाई गई तथा बाहर पत्थर का एक मन्दिर बना। डॉ. उमाकान्त शाह का मत है कि देवनिर्मित स्तूप पार्श्वनाथ जिन की स्मृति में ही मूलतः बना होगा। जिनप्रभसूरि ने भ्रमवश सुपार्श्व लिखा है। कंकाली से प्राप्त अवशेषों में पार्श्वनाथ की मूर्तियां ही अधिक हैं। किन्तु हमें यह मत मान्य नहीं है, क्योंकि अन्य लेखकों ने भी इसे सुपार्श्व का स्तूप माना है अतः सभी भ्रान्त नहीं हो सकते। पार्श्वनाथ जी महावीर जी के पूर्ववर्ती थे और उनका समय 800 ई. पूर्व के आस-पास माना जाता है। जिस देव निर्मित स्तूप का पुनर्निर्माण 800 ई. के पूर्व के आस-पास हुआ वह कम से कम 100 या 200 वर्ष और पुराना अवश्य रहा होगा। इस प्रकार साहित्य तथा पुरातत्त्व के समन्वित अध्ययन का सारांश है कि कंकाली टीले पर स्थित देव निर्मित स्तूप की रचना का आरम्भ किसी न किसी रूप में अब से लगभग 3000 वर्ष पहले हो चुका था और यथासमय उसके स्वरूप का परिवर्तन होता रहा। इस निश्चय पर पहुंचने पर यह कहा जा सकता है कि सिन्धु संस्कृति के पश्चात् मथुरा का देव निर्मित स्तूप भारत का प्राचीनतम स्मारक था। इस तथ्य से देशी तथा विदेशी सभी विद्वानों ने सहमति प्रकट की है। अतः भारतीय पुरातत्त्व में कंकाली टीले के जैन स्तूप का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

स्तूप के निर्माण के समय से ही कंकाली परिसर एक सरोवर रहा होगा अथवा उसे कालान्तर इष्टापूर्त कर्त्तव्यों के अन्तर्गत बनवाया गया। यह 1976 में मुनीश चन्द्र जोशी व मार्गबन्धु के उत्खनन से मिला। इसमें कनिष्क के संवत्सर पांच का एक लेख भी मिला है।

यह प्राचीन जैन स्थल भारतीय कला रत्नों की खान माना जाता है जहां से सैकड़ों की संख्या में वास्तु अवशेष तथा तीर्थंकर व देवी देवताओं की मूर्तियां मिली हैं। मथुरा के तत्कालीन समाज के अध्ययन में सांस्कृतिक अवशेष सुन्दर कोष की भूमिका निभाते हैं। यदि सिन्धु संस्कृति तथा पटना के समीप लोहनीपुर से प्राप्त विवादास्पद मूर्तियों को छोड़ दें तो मथुरा की जैन मूर्तियां ही प्राचीनतम सिद्ध होती हैं। इन मूर्तियों की प्रमुख विशेषता यह है कि इनके अध्ययन में जैन मूर्तिकला का आरम्भ से मध्यकालीन तक विकास शृङ्खला की सभी कड़ियां

भला-भाँति गुम्फित दीखती हैं। गत शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही यहां से अवशेष मिलने आरम्भ हो गये थे। कनिंघम, हार्डिंग, ग्राउज, बर्गेस आदि ने समय-समय पर सर्वेक्षण तथा उत्खनन कर अंभिलिखित मूर्तियां व वास्तुखण्ड निकाले 1 डी. फ्यूरर ने 1888 से 91 के बीच बड़े पैमाने पर उत्खनन कर सैकड़ों श्रेष्ठ तथा बहुमूल्य कृतियां लखनऊ संग्रहालय को भेजी। डॉ. विसेन्ट स्मिथ ने उत्खनन से प्राप्त इस सामग्री पर 1901 में एक सचित्र पुस्तक प्रकाशित की। इसकी भूमिका में मूर्तियों की संख्या 737 बताई है। डॉ. वोगल ने भी मथुरा संग्रहालय के कैटलाग पृ. 17 में स्पष्ट किया है कि 1890-91 केवल एक वर्ष की खुदाई से ही 737 मूर्तियां निकलीं और उन्हें लखनऊ संग्रहालय भेज दिया गया। 47 फीट व्यास का ईटों का एक स्तूप तथा दो जैन मन्दिर प्रकाश में आए। इसके अतिरिक्त भी अनेक कलाकृतियां कंकाली से मिलती रहीं। जिनमें कुछ मथुरा संग्रहालय में विद्यमान है। खुदाई से मिले अवशेषों में यद्यपि सभी धर्मों का न्यूनाधिक प्रतिनिधित्व है; किन्तु जैन मूर्तियों की संख्या बहुत अधिक है। इनका काल-निर्धारण दूसरी शती ई. पूर्व से लगभग 12 वीं शताब्दी के बीच हुआ है। कंकाली के अधिकतर कलारत्न लखनऊ संग्रहालय में है तथा शेष भारत के अन्य तथा विदेशी संग्रहालय में भी छिटके पड़े हैं।

आयाग पट्ट-- उत्खनन से पत्थर की कुछ चौकोर पट्टियां मिली हैं जिनमें शुभ चिह्नों का अंकन है और कभी-कभी बीच में जिन आकृति बनी रहती है। इन्हें तीर्थंकरों की स्मृति में पूजा के निमित्त स्थापित किया जाता था ये उस संक्रमण युग के है जब प्रतीकों की उपासना प्रचलित थी और मानवाकृति में महापुरुषों की मूर्तियों का श्रीगणेश हो रहा था। इन्हें प्रथम शताब्दी ई.पू. तथा पहली शती ई. के बीच मानते हैं। अधिकतर आयागपट्ट कंकाली टीले से ही उपलब्ध हुए है। अमोहिनी या आर्यावती तथा शिवयशा के पट (लखनऊ संग्रहालय), सिंहनादिक पट्ट (दिल्ली संग्रहालय) और लवण शोभिका की पुत्री वसु का पट्ट (मथुरा संग्रहालय) अधिक प्रसिद्ध है। इनमें से कुछ में स्तूप की रचना का बड़ा सुन्दर चित्रण मिलता है। अमोहिनी पट को जैनधर्म की स्थिति का सबसे प्राचीन प्रमाण माना जाता है। आयागपट्टों में उत्कीर्ण अष्ट माङ्गलिक

चिह्न हैं- मीनमिथुन, त्रिरत्न, चैत्यवृक्ष, सराव सम्पुट, भ्रदासन, श्रीवत्स, स्वस्तिक और मङ्गल कलश।

तीर्थंकर प्रतिमाएँ- आयागपट्ट में उकेरी छोटी जिनमूर्ति का स्वतन्त्र प्रतिमाओं के रूप में विकास हुआ। प्राचीन तीर्थंकर मूर्तियों में यक्षों का पर्याप्त अनुकरण है।. मथुरा से ऋषभनाथ, सम्भवनाथ, शान्तिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ व महावीर स्वामी की प्रतिमाएं उपलब्ध हुई हैं। ये दो मुद्राओं में मिली हैं पहली ध्यान भाव में आसीन और दूसरी कैवल्य की प्राप्ति के लिए दण्डवत खड़ी। युवा सुन्दर शरीर, वक्ष पर श्रीवत्स चिह्न, आजानुबाहु और प्रशान्त भाव प्रमुख लक्षण हैं। कंकाली से प्राप्त ऐसी अनेक सुन्दर मूर्तियां लखनऊ संग्रहालय में हैं। कुषाणयुगीन रचना विकासोन्मुख है और गुप्तकालीन मूर्तियों से सौष्ठव दिखाई देता है तथा प्रभा मण्डल पूर्ण है। प्राचीन मूर्तियों में से आदिनाथ या ऋषभनाथ को कन्धे पर पड़ी जटाओं से और पार्श्वनाथ को सर्पफणों की छतरी से पहचाना जा सकता है। नेमिनाथ जी की मूर्तियों में कृष्ण व बलराम का प्रदर्शन रहता है। कंकाली से मिली संवत् 18 की अरिष्टनेमि (जिन्हें नेमिनाथ माना जाता है) की प्रतिमा में कृष्ण बलराम प्रदर्शित नहीं है। शेष 23 तीर्थंकरों की मूर्तियां यदि उनका नाम अभिलेख में नहीं है तो पहचानना सम्भव नहीं है। सं. 19 की प्रतिमा शान्तिनाथ की है। दोनों लखनऊ संग्रहालय में है। मध्य युग से सभी तीर्थंकर लक्षण चिह्न अंकित होने लगे। इससे पहचानने में बड़ी सरलता हुई। मुख्य तीर्थंकर के साथ शासन देवता, यक्ष-यक्षिणी की आकृतियाँ भी बनने लगीं। उक्त देवताओं की स्वतन्त्र प्रतिमा भी मिलती हैं। मथुरा संग्रहालय की चक्रेश्वरी की मूर्ति कंकाली की अमूल्य निधि है। कुछ ऐसी प्रतिमाएँ मिली है, जो स्तम्भ के समान है और चारो ओर तीर्थंकर बने हैं इन्हें सर्वतोभद्र या चतुर्मुखी कहते हैं। बहुत-सी प्रतिमाएं अभिलिखित हैं और उनमें संवत्, महीना, ऋतु तथा दिवस भी दिया है। इनसे तत्कालीन जैन समाज के धार्मिक संगठन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

अन्य मुख्य कलाकृतियां- तीर्थंकरो के साथ ही कुछ फुटकर मूर्तियां व दृश्य भी महत्त्वपूर्ण हैं। सरस्वती की प्राचीनतम मूर्ति कंकाली से ही मिली है (लखनऊ संग्रहालय जे. 24) इसमें देवी बाएं हाथ में पुस्तक

लिए है और दाहिना हाथ अभय में ऊपर उठा है। अभिलेख में इसे सरस्वती प्रतिमा बताया है। मथुरा से आरम्भ सरस्वती आन्दोलन को और अधिक वेग देने के लिए ऐसी प्रतिमाएं बनी होंगी। गण-कुल शाखा आचार्य, वाचक, श्रद्धाचार आदि शब्दों से जैन समाज के सुव्यवस्थित होने का संकेत मिलता है। तीर्थंकर की लीलाओं का अंकन दुर्लभ है; किन्तु कंकाली से ऐसे दो दृश्य मिले हैं– एक शुंग कालीन वास्तु खण्ड पर है जिसमें नर्तकी नृत्य कर रही है और कुछ अन्य संगीतज्ञ वाद्ययन्त्रों से संगीत में लीन हैं (लखनऊ संग्रहालय जे. 354) इसमें एक नग्न साधु भी है जिसे ऋषभनाथ माना जाता है और नर्तकी है नीलाञ्जना अप्सरा जिसने ऋषभदेव की सभा में सुन्दर नृत्य किया था। किन्तु वह भौतिक बन्धनों को काट चुके थे। नृत्य के प्राचीनतम भारतीय दृश्यों में यह है। इससे वैभवशालिनी मथुरा की सुरुचि सम्पन्नता का आभास मिलता है। एक दृश्य में ब्राह्मणी देवनन्दा के गर्भ से क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में महावीर जी के भ्रूण का स्थानान्तरण चित्रित है। कार्य समाप्ति के उपरान्त भगवान् नैगिमेश (अजमुखी बालसंरक्षण् देवता) ने इन्द्र का वृत्तान्त बताया तो देवांगनाएं हर्ष से नाच उठीं। एक ओर वाद्य संगीत तथा नृत्य की दृष्टि से कुषाणकालीन यह फलक महत्त्वपूर्ण है वहीं दूसरी ओर इससे भ्रूण स्थानान्तरण जैसी बड़ी जटिल शल्यक्रिया का अनुमान लगता है। पत्थर की बड़ी व चौड़ी नालियां जैसी मिली हैं। अनुमान हैं कि प्रासादों में जल व्यवस्था अथवा जल निष्कासन के हेतु इनका प्रयोग होता था। मत्स्य, मकर, स्वस्तिक, त्रिरत्न के शुभ प्रतीकों से संकेत मिलता है कि इन्हें अच्छे स्थानों में लगाया गया था।

वास्तुखण्डों में वस्त्र परिधान, आभूषण, केश विन्यास, आमोद-प्रमोद संस्कार, दैनिक जीवन आदि के दृश्यों के साथ ही विभिन्न प्रकार के वृक्ष, कमल, लता, पुष्प, गुल्म, पशु-पक्षी एवं काल्पनिक जीवों (ईहामृग) का भी मनोरम अंकन है। शुंगकालीन तोरण शीर्ष पट्टी पर एक ओर यात्रा का दृश्य है और दूसरी ओर सुपर्व तथा किन्नरों द्वारा स्तूप का पूजन हो रहा है। भारतीय कला का यह अत्यन्त उत्कृष्ट नमूना है। तोरण शालभञ्जिका तथा वेदिका स्तम्भों पर बनी विभिन्न मुद्राओं में रमणियों की आकृतियां भी दर्शनीय हैं। कोई वृक्ष के नीचे पुष्पावचयन मे लीन है अथवा प्रसाधन या पूजन सामग्री लिये प्रतीक्षा कर रही है

तो अन्य केश विन्यास सम्हालती है। कोई खड्ग लिए नृत्यमुद्रा में है तो अन्य निर्झर स्थान का आनन्द लूट रही है। रायपसेणिसुत्त में मथुरा के जैन शिल्प व स्थापत्य का ही विस्तृत विवरण दिया प्रतीत होता है। भारतीय प्रस्तर कला और मुख्यतः मथुरा कलाशैली के कालक्रम का निर्धारण करने में मथुरा के जैन शिल्प का विशिष्ट अवदान है। तीर्थंकर प्रतिमाएं सैकड़ों वर्षों तक ध्यानस्थ व कायोत्सर्ग मुद्रा में बनती रही अतः उनके विकास के चिह्न मात्र शरीर सौष्ठव से ही आभासित होते है; किन्तु पीठ की रचना, सिंहों की स्थिति, लेख आदि से कला का क्रमिक विकास शीघ्र हृदयंगम हो जाता है और अनेक जटिलताओं का समाधान हो जाता है।

धर्म सामञ्जस्य– कंकाली टीले का अतीत धर्म सामञ्जस्य का ज्वलन्त उदाहरण है। यदि दिगम्बर मूर्तियां बहुल संख्या में है तो अर्द्धफलक मुनियों तथा श्वेताम्बर प्रतिमाओं का सर्वथा अभाव नहीं है। रजोहरणधारी एक वन्द्यमान मुनि ने अपने नग्न शरीर को अंशतः ढकने का प्रयास किया है। लखनऊ संग्रहालय की दो मूर्तियां भी उल्लेखनीय हैं। एक मूर्ति सं. 1134 (1077 ई. लखनऊ संग्रहालय सं. जे. 145) और दूसरी सं. 1138 (1081 ई. लखनऊ संग्रहालय जे. 143)। ये दोनों ही मूर्तियां संघ की श्वेताम्बर शाखा द्वारा स्थापित हुई। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों ग्रन्थों में मथुरा का माहात्म्य है। देव निर्मित कंकाली का स्तूप दोनों को समान रूप से मान्य रहा। यहाँ यह भी स्पष्ट करना है कि आवश्यकनिर्युक्ति में एक मान्यता का उल्लेख है कि वर्धमान महावीर के 609 वर्ष पश्चात् शिवभूति ने बोडिय सम्प्रदाय प्रतिष्ठित किया। स्थान का नाम रहवीरपुर बताया है जिसे कुछ विद्वान् मथुरा बताते हैं। सम्भव है कि दो भेद आरम्भ में नहीं थे।

कंकाली के अतिरिक्त मथुरा के अन्य कुछ स्थलों से भी जैन पुरावशेष मिले हैं जिनमें समुद्र व सागर द्वारा स्थापित आदिनाथ की स्थित मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण अभिलेख "ऋषभस्य प्रतिमा" के कन्धे पर पड़े केश और कायोत्सर्ग मुद्रा में बने तीर्थंकर को आदिनाथ पहचानना सरल हो गया। "सिद्धं ऋषभस्य प्रतिमा समुद्रसागराभ्यां संगरकस्य दत्ता सागरस्य प्रतिमा"।

तथ्य तो यह है कि मथुरा का जैन समाज प्राचीन काल में सहिष्णुता के लिए आदर्श रहा है। साथ ही जाति, वर्ण, लिंग, देशी, विदेशी आदि संकीर्ण मनोवृत्तियों से भी यह ऊपर उठा था। यहां सैकड़ों वर्षों तक यह प्रयास रहा कि दिगम्बर आम्नाय तथा श्वेताम्बर आम्नायों की खाई पाट दी जाय। पूरे देश में जब संघ सम्बन्धी भेद जड़ पकड़ गया तब भी मथुरा ने कुछ शताब्दी तक अपने को इस संघर्ष से बचाने में सफलता प्राप्त की। मथुरा स्थापत्य भी हमें उसी उदार विचारधारा का सन्देश देता है।

कंकाली में न केवल जैनों के दो सम्प्रदायों में उदार भाव बना रहा अपितु उपलब्ध अवशेष बताते हैं कि अन्य धर्मों का भी यहां समादर होता था। देव निर्मित स्तूप के समीप ही हमें ब्राह्मण व बौद्ध धर्मों की सुन्दर प्रतिमाएं मिलती हैं। शुंगकाल की सर्प फणों से आच्छादित तथा हल मूसल लिये बलराम की मूर्ति अति प्रसिद्ध है। इसकी प्राचीनतम ब्राह्मण मूर्तियों में गणना है। शुंगकाल की ही अन्य मूर्ति में एक व्यक्ति बैल पर सवार है। सम्भव है कि यह वृषारोही शिव हों। कार्तिकेय की कुषाणकालीन एक सुन्दर मूर्ति कंकाली से मिली है जिसमें वह शक्ति लिए खड़े हैं। इसकी विशेषता यह है कि अभिलेख में इसे कार्तिकेय की प्रतिमा बताया है (मथुरा संग्रहालय 24.2949)। इसी प्रकार उदीच्य वेष में कोट तथा जूते पहने सूर्य की कुषाणकालीन प्राचीनतम प्रतिमा मिली हैं (मथुरा संग्रहालय 12.269)। बुद्ध तथा बोधिसत्वों की मूर्तियां मिली हैं इस प्रकार विभिन्न धर्मों से सम्बन्धित कलाकृतियों से यह धारणा बनती है कि मथुरा में उस समय धार्मिक संकीर्णता नहीं थी। लखनऊ संग्रहालय के 1889 के वार्षिक विवरण में कंकाली के उत्खनन से मिली विभिन्न सम्प्रदायों की मूर्तियों का संक्षिप्त ब्यौरा है। एक सम्प्रदाय के अनुयायी दूसरे सम्प्रदाय का आदर करते थे। उनके देवी-देवताओं की मूर्तियां भी कंकाली तथा आस-पास सुविधानुसार स्थापित की गई। इस उदारवादी दृष्टिकोण का विदेशियों के मानस पटल पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा। फलतः हम शक, कुषाण स्त्री-पुरुषों को भारतीय देव समुदाय की उपासना में लीन देखते हैं। उन्होंने यदि सैन्य बल से भारत को जीता तो मथुरा की सहिष्णु संस्कृति और जैनों की अहिंसा वृत्ति ने उनका हृदय जीत लिया।

सारांशतः मथुरा जैन स्तूप कंकाली के सांस्कृतिक वैभव के सम्यक् दर्शन के लिए हमें इन विशेषताओं का पुनराकलन करना होगा–

1. यह एक अत्यन्त प्राचीन स्तूप था जिसका शुभारम्भ ईसा से कुछ शताब्दियों पूर्व हो चुका था। उत्खनन से उपलब्ध पुरावशेष उसके उस युग को आलोकित करते हैं जब से मुनियों व आचार्यों ने समृद्ध श्रद्धालुओं को प्रस्तर मण्डित व अलङ्कृत करने को प्रेरित किया।

   वस्तुतः यह स्तूप संकुल जैनधर्म का एकमात्र प्राप्य स्तूप है। अन्यत्र या तो कोई जैन• स्तूप बना नही अथवा वह अतीत के गर्भ में अभीतक समाहित है और कंकाली का स्तूप इस दृष्टि से अद्वितीय और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

2. कंकाली के पुरावशेष शुंग, शक, पल्हव, कुषाण, गुप्त तथा मध्य-काल के समाज के अध्ययन अनुशीलन के लिए दर्पण है।

3. जैनधर्म संगठन तथा सामाजिक संरचना के दिग्दर्शन के लिए तो यह अप्रतिम स्मारक था।

4. जैन मूर्तियों के आरम्भ व विकास के लिए इस स्तूप के अतिरिक्त अन्य• कोई केन्द्र रहा ही नहीं, क्योंकि प्रतीक आयागपट्ट, जिन आकृतियों का उद्भव, उनका क्रमिक विकास, व्यूह स्वरूप, मानक स्तम्भों के रूप में पल्लवन, परिचिति के लांछनों का आरम्भ, विशाल जिन प्रतिमाओं का श्रीगणेश ये सभी सोपान यहां हस्तामलकवत् दर्शनीय हैं।

5. सुपार्श्व या पार्श्वनाथ जी को विशेष महत्त्व देकर पूजा का आधार बनाना मथुरा की प्रतिष्ठित नाग संस्कृति के साथ समन्वय का रहस्य प्रतीत होता है। इसका निश्चित काल-निर्धारण करना कठिन है। इस महत्त्वपूर्ण घटना को समन्वय या स्याद्वाद का सूत्रपात मानें या व्यवहार स्तर पर पुष्टि इस पर विद्वानों को मनन करना है।

6. समन्वय के प्रयोग से जहां उपदेशों के प्रचार-प्रसार में सफलता मिली वहीं कभी-कभी विरोध के स्वर भी गूंजे और अन्य

मतावलम्बियों ने स्तूप पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास किया।

7. जैन स्तूप के मूर्तिलेखों का कई दृष्टियों से महत्त्व है। समाज, धर्म, आचार, साहित्य, भाषा, लिपि, कला, काल, गणना, संवत्सर विवेचन अनेक विद्याओं के अध्ययन व शोध की प्रेरणा इनसे मिलती है।

8. सरस्वती आन्दोलन, माथुरी वाचना, सरस्वती मूर्ति, चैत्य स्तूप सभी प्राचीनकाल से चली आ रही ज्ञानाग्नि में आहुतियों के विभेद हैं।

9. देव निर्मित स्तूप व उसपर शुक्ल पताका फहराना कुछ ऐसी गुत्थियां है जिनपर और अधिक प्रकाश अपेक्षित हैं।

विषय प्रवर्तन के माध्यम से मैंने कुछ चिन्तन सूत्रों को सम्मान्य मुनि, महाराज व आप जैसे विशिष्ट विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इनसे शोध का ताना-बाना बुनना आपके हाथ है।

●

Mathurā and Jainism*

Umakant P. Shah and Ernest Bender

The fact of Mathurā's active existence from the late centuries, B.C., to Gupta times is attested by archaeological remains, as well as by references to the city and its inhabitants in early Jaina canonical literature, dating over a period from the fourth century, B.C., to circa the fourth/fifth centuries, A.D. Testimony on conditions in pre-Gupta Mathurā may occasionally also come from medieval Jain writers. In evaluating this evidence for chronological relevance we follow, in general, the opinions of modern scholarship relating to the ages of the different Jaina canonical works. Commentators on the extant texts, whenever they quote a variant reading, give the variant according to the Council presided over by Nāgārjuna[1] in Valabhi in circa the early fourth century, A.D., thus indicating that, for the most part, the Jaina canon available to us today follows the text of the Mathurā Council[2] headed by Ārya Khandila (Skt. Skandila) in the fourth quarter of the fourth century, A.D.

To characterize the value of Jaina literature and the difficulty of using it, we quote from Moti Chandra's Trade and Trade Routes in Ancient India.[3]

"Jaina canonical literature, including the Aṅgas, Upāṅgas, Gāthās, Cūrṇis, and their commentaries, is full of interesting material, but .... it has not been studied very much. The chief reason for this is the non-availability of Jaina texts and the difficulty of the language which makes the interpretation difficult .... most of the Jaina literature has been published for the edification of the Jaina devotees .... They have neither introduction or indices. They also lack linguistic notes which makes it difficult to understand the correct

---

* *Mathurā : The Cultural Heritage, Doris Meth Srinivasan, New Delhi, AIIS.*

import ofthe texts. To trace any cultural references in Jaina literature, it is necessary to go through all of it. Bujt if one (does),........... it becomes evident that without the study of Jaina literature, the cultural history oflndia remains incomplete, because (it) .... throws light on certain aspects of Indian Culture which have not been mentioned either in Pāli or Sanskrit literature .... (or) .... references are very scanty. For example, let us take the topic of the Sārthavāha.[4] The Brahmanic Sanskrit literature, because of a difference in point of view, throws very limited light on the problem .... the Buddhist literature deals with the subject at some length though the story lelment (predominates). Therefore, it is difficult to [learn] from Buddhist literature in what kinds of goods the merchants traded and what was their organization .... Jaina literature believes in giving even the minutest details .... whatever subject it touches it describes in detail, unmindful whether such descriptions go well with the framework of the story. The Jaina monks were wanderers .... and, while travelling from place to place, they did not fail to observe the life of the people. Jainism was also chiefly the religion of merchants and, therefore, the Jaina literature has not failed to describe the various aspects of the life of their followers. Jaina monks, wherever they went, studied [the] geographical and social conditions and also the local language in order to preach ...... Whatever ...... their date ...... the material preserved in them in ancient.

Jaina literature gives certain definitions about trade ...... such definitions are not given in other literature. These definitions or stock descriptions inform us about the places where the goods were sold and that ....., for the sale and purchase ...... and for their transport, there were many markets and differences in the markets.[5] ...... the method of their travel was different ....

Wherever they went, they thoroughly examined the people of the locality. This was known as janapadaparikṣa .... In such towns they learnt many languages and dialects .... Their disciples also gained

experience[6] ...... They made inquiries about different kinds of grains which a district produced and the kind of irrigation required ..... Monks examined in detail cities like Mathurā .... Whatever region they visited, they inquired about its extent, the local customs and manners ... . According to the Āvaśyakacūrṇi,[7] the Jain monks were also adept in folklore and they made inquiries about chanda, vidhi, vikalpa and nepathya.'

The chapter goes on to report, among other topics, Jaina references to caravans and the pertinent terminology.[8]

We learn from such Jain literature that Mathurā-- also called Uttramahurā[9]-- was the capital city of Sūrasena (Skt. Śūrasena), a country described as 'āriya', that is, acceptable for sojourn by Jaina monks. According to the Niśīthasūtra-cūrṇi,[10] Mathurā was one of the ten capital cities where kings could be crowned. The other cities were Campā, Vārāṇasī, Hastināpura, Śrāvastī, Sāketa, Kampīlya, Kauśāmbī, Mithilā and Rājagṛha. The Āvaśyaka-cūrṇi cites Iṁdapura (Skt. Indrapura) as another name for Mathurā : mahurāe ceva bīyaṁ nāma iṁdapura ti.[11]

A stūpa is recorded to have been erected in Mathurā by Jaina, but claimed by Buddhists, culminating in a quarrel in which the latter were defeated.[12] The Kaṇkālā Tīlā Stūpa of Mathurā[13] has yielded a large number of antiquities. Whether this dispute was over the ownership of that stūpa or over some other Jaina stūpa at Mathurā, we cannot say. That the Kaṇkālī Tīlā Stūpa was known as the 'Devanirmita-Stūpa' is fairly certain, because an inscription on the pedestal of a Jaina image from this very site reads: 'This image was installed in the thūbhe devanirmite'-- i.e., the Devanirmita-Sthūpa; perhaps indicating that its origin was forgotten in circa the second century,A.D. Haribhandrāsūri, circa seventh century, A.D., called it 'devanirmita', because he might not have known its origin or the name of the Jina to whomit was originaly dedicated. Other canonical works like the Bṛhatkalpasūtrabhāṣya refer to it by this name. That there were

five stūpas at Mathurā can be inferred from the Digambara tradition of the Pañcāstūpānvaya.[14]

Somadevasūri refers to Mathurā in his Yaśastilakacampu of the tenth century, A.D. He relates the legend according to which a Jaina stūpa was erected to Vajrakumāra, son of Somadatta, during the reign of King Pūtikavahana. Elsewhere, he refers to Urvilā, queen of Mathurā, who on the occasion of the Aṣṭāhikamahotsava would send out the rathayātra of the Jina.[15]

In the Vividhatīrthakalpa,[16] a collection of kalpas or accounts of various Jaina tīrthas, composed by Jinaprabhasūri between 1307 and 1340 A.D., he tells of two Jaina monks visiting Mathurāpurī and staying in a park with the name 'Bhūtaramaṇaudhāna' during the era of the Jina, Supārśvanātha. They converted the presiding deity of this park, Kuberā, to the Jaina Faith, who erected a stūpa at Mathurā for the Jaina Saṅgha's worship. The story proceeds to describe the stūpa. It was made of gold and studded with jewels, with images of devas surrounding it. Equipped with a toraṇa (gateway) and dhvaja (banner), it was adorned with three mekhalās (railed-ways), flanked, each, by images, and topped by a triple chatra (umbrella). The central image of the stūpa was that of Supārśvanātha. There arose a controversy over the ownership of the stūpa with members of other sects, such as Buddhists, Śaivites and Vaiṣṇavas. Through divine intervention the image was proven to be that of the Jina and his paṭa (painting on cloth) was carried through the city in a yātrā. The lavishly fashioned stūpa remained open to the air until the age of the Jina, Pārśvanātha, the twenty-third Jina, when a local king, attempting to confiscate its treasures, was killed by the goddess Kuberā, who instructed the Jaina Saṅgha to brick over the stūpa and place a stone image of Pārśvanātha on its exterior. The Jainas were enjoined to worship the Jina in their homes and the practice of placing his image over the doorway was instituted. In V.S. 826 (769 A.D.), in accordance with the council of Bappumaṭṭisūri, King Āma had the stūpa repaired and an image of

Mahāvīra installed. Enhanced with a kūpa (well) or kuṇḍa (small tank)-- indeed, a kuṇḍa close to the site of the stūpa near Kaṁkālīrṭālā has been unearthed by Dr. M.C. Joshi and Dr. Margabandhu during their recent excavations-- and encircled with a walled grove, the stūpa was embellished with thousands of images, shrines, a beautiful gandhakuṭī (censer) and statues of Cillaṇiā (Cillanikā), Ambāī (Ambikā) and the kṣetrapālas. Here are located five sthalas-- arkasthala, vīrasthala, padmasthala, kuśasthala, and mahāsthala-- and twelve vanas-- lohajaṁghavana, madhuvana, bilvavana, tālavana, kumudavana, vṛndāvana, bhaṇḍīravana, khadīravana, kāmikavana, kolavana, bakulāvana and mahāvana. (Cf. the names of the sthalas and the vanas encountered in the Hindu purāṇas; cf., also, the five tīrtha-names mentioned by Jinaprabhasūri in this work-- i.e., the laukikatīrthas: Viśrānti, Asikuṇḍa, Vaikuṇṭha, Kāliñjara and Cakratīrtha.) The author adds that the śramaṇa, Jinabhadraśaṇi, obtained the deteriorated manuscript of the Mahāniñīthasūtra and repaired the damaged folios; and that the god, Śakra, went to Bhūtagṛha, near Mathurā, for the elucidation of the nigoda by Ārya Rakṣitasūri whose successors, Vatsapuṣyamitra, Ghṛtapuṣyamitra and Durbali kāpuṣyamitra, also visited Mathurā. He mentions, also, the Mathurā Council convened by Ācarya Khaṇḍila. It would seem that the Jaina stūpa was still standing in Jinaprabhasūri's time. His Mathurā-stūpastut;aya suggests this.

Mathurā also appears in Digambara accounts. Guṇabhadra in his Uttarapurāṇa, sarga 74, refers to Mahāvīra's previous birth as Vissanandī (Viśvanandī), son of Vissabhūi (Viśvabhūti) of Rājagṛha, in connection with Mathurā.[17]

Hariṣeṇa, in his Bṛhathathākośa, story 2, describes Mathurā, as adorned with lofty Jaina temples and abounding in cows (purīgodhanasaṁkulam). In story 12, he refers to the rathayātrā of Mathurā and the erection ofthe five Jina stūpas after the defeat of the Buddhists.[18]

Other references locate at Mathurā a part by the name of Bhaṁḍīravaḍeṁsia (Bhaṇḍīravataṁsaka) visited by Pāsa (Pārśva [nātha]).[19] Here, too, was the shrine of the yakṣa, Sudaṁsaṇa (Sudarś;ana), to which people made pilgrimage-- an indication, perhaps, of a thriving yakṣa-cult.[20]

To Mathurā, it is recorded, came Mahāvīra,[21] the twenty-fourth and last tirthayara (tīrthaṁkara), during the reign of King Sirādāma (Śirīdāman). Legend holds that, in a former birth, Mahāvīra, as Vissabhūi (Viśvabhūti), had met his death on the horns of a cow, having, prior to that, made a resolution (nidāna) to kill in a later existence his cousin, Visāhaṇaṁdi (Viśākhanandī), the son of the king of Rāyagiha (Rājagṛha).[22]

It was in the Jauṇāvaṁka-garden (Yavunāvakra) that the Jauṇa (Yavuna) king of Mathurā murdered the monk Daṁḍa, and later on, himself became a monk.[23] Note, too, the didacti tale of the sāvaga (Śrāvaka), Jiṇadāsa whose two bulls, Kaṁbala and Saṁbala, observed vratas along with him.[24]

Another name connected with Mathurā is that of the learned Āeāya Maṁgu whose greed for food resulted in his rebirth as a jakkha (yakṣa),[25] as contrasted with the skilled Goṭṭhāmāhila (Goṣṭhāmāhila), a disciple of the aforementioned Rakkhiya (Rakṣita), noted for his victory in debate over heretics (akkiyavāyī, akriyāvādin).[26]

From Mathurā, his birthplace, to Bāravaī (Dvāravatī), capital of Suraṭṭha (Surāṣṭra), fled the Dasārasīha Vasudeva Kaṇha (Daśārhasiṁha Vasudeva Kṛṣṇa) in fear of Jarāsaṁdha whom he later killed.[27] From Mathurā went King Dhara,[28] invited to contend in the svayamvara of Dovaī (Draupadī), but to no avail, for she chose Juhiṭṭhilla, Bhīmaseṇa, Ajjuṇa, Naula and Sahadeva, better known, perhaps, as the five Pāṇḍavas, Yuddhiṣṭhira, Bhīmasena, Arjuna, Nakula and Sahadeva, the fruit of her nidāna of a previous birth.[29]

In Mathurā was born the prince Kālavesiya (kālavaiśika) to King Jiyasattu (Jitaśatru) and his courtesan, Kālā. Kālavesiya, Jaina accounts

record, became a monk who so little valued his body that it was eaten by a juckal at his sallekhanā on Mt. Muggasela (Mūdgaśaila).[30] Other natives of Mathurā are the princess Nivvūī (Nirvṛti),[31] daughter of King Jiyasattu, King Saṁkha[32] who undertook the life of an ascetic, and the purohita, Iṁdadatta, who enjoyed the questionable distinction of having had one of his legs severed by a merchant of the town.[33]

The Avaśyaka-cūrṇi[34] records that Mathurā was a great commericla centr and from there merchants would go to conduct business in Dakkhiṇa Mathurā (Dakṣiṇa Mathurā), identified as present-day Madurai, and that one of the merchants had established family connections in that city.[35] The Ācārańga-cūrṇi[36] dentifies Mathurā as a thalapaṭṭaṇa (sthalapattana) where goods for trade were carried overland, while the Bṛhatkalpabhāṣya[37] observes that it was noted as a cloth-manufacturing center[38] and a business center whose inhabitants lived on trade[39] and not on the cultivation of the land.

J.C. Jain[40] refers to Mathurā as an important center of nāga-worship where a number of nāga-images have been recovered. (See above, where Pāsanāha [Pārśvanātha] is reported to have visited the city. Note, too, his association with serpents.)

The curtains of legend and half-legend have parted to reveal a city of great antiquity, its age earlier than the tradition recorded in the Jain canon.[41]

Mathurā thrived off the wealth which accumulated at the cross-road of the uttaravāha, the great caravan route, one of whose branches led westward to Taxila and beyond, a second to the east-- to Patna (Pāṭaliputra/Palibothra) and Tamluk (Tāmralipti)--, and a third, southward, to Ujjain (Ozene/Ujjayanī) and thence to Broach (Bhurukaccha/ Barygaza) connecting the midlandof India with the sea-trade along the Gulf of Cambay.[42]

The city continued to prosper under the Kuṣāṇas in a congenial atmosphere which attracted representatives of ancient cults, Jainism,

Brāhmanism and Buddhism. The wealth of its merchant class made possible the creation and maintenance of Jain monuments, and made Mathurā a flourishing center for the arts.

Notes

1. Daśavaikālika-cūrṇi [DaśCū], Ratlam 1933, p. 204; Ācārāṅga-cūrṇi [ĀcaCu.], Ratlam 1941, p. 207; Jagdish Chandra Jain, Life in Ancient India (As Depicted in the Jain Canons) [Jain, Life], Bombay 1947, p. 33 and fn. 5.
2. Kalpasūtra-vṛtti (by Samayasundara)[KalpSam.], Bombay and Surat 1939, p. 107; Nandisūtra-cūrṇi (NanCū], Banaras 1966, p. 9; Nandisūtra-vṛtti (by Malayagiri) [Nan M.], Bombay 1924, p. 51; Nandisūtra-vṛtti (by Haribhadra) [NanH.], Banaras 1966, p. 13; Albrecht Weber, Indian Antiquary, Vol. XVII, p. 282; U.P. Shah, Studies in Jain Art [Shah, Studies], Banaras 1955, pp. 110-111; S.B. Deo, History of Jain Monachism [History], Poona 1956, p. 20.
3. Moti Chandra, Trade Routes, pp. 158f.
4. The caravan leader, see BṛhKBh. 1090, and fn. 46, below.
5. E.g., jalapaṭṭana 'sea-port', sthalapaṭṭana 'inland market', dronamukha 'market handling goods coming from the sea as well as the land,' nigama'a town where bankers operated,' saṁgrahika nigama 'a town whose banking business was concerned with pledging goods and deposits,' asaṁgrahika nigama 'a town whose business was not limited to the saṁgrahika,' niveśa 'a caravan town or a town where caravans assembled.'
6. Bṛhatkalpa-bhāṣya [BṛhBh.], Ahmedabad 1916, 1227.
7. ĀvaCū. 581 A and B; chanda 'food, ornaments, etc.' vidhi 'local customs,' vikalpa 'farming methods, household affairs, temple management, etc.,' nepathya 'local costumes.'
8. E.g., sārtha, 'caravan,' bhaṇḍi sārtha 'caravan carrying only goods,' bahalika '[caravan] consisting of animals,' bhāravāha '[caravan whose members] carried their own loads,' audārika sārtha 'caravan of wandering workers,' kārpaṭika sārtha 'caravan of monks and religious mendicants,' vidhāna 'goods carried by a

caravan,' gaṇima 'goods which could be counted.' dharima 'goods which could be weighed,' meya 'goods which could be measured,' paricchedya 'goods which could be assessed visually,' anuraṅga 'a draft vehicle,' yānā 'a litter,' sārthavāha 'caravan leader,' kṣetrataḥ pariśuddha '[a caravan which] covered a distance [suitable for ancients and children], kālataḥ pariśuddha '[a caravan] starting before sunrise,' bhāvataḥ pariśuddha '[a caravan] supplying food to monks of all demoninations.'

9. Jain, *Life*, pp. 250-51, and fns. 17-20, p. 308 f.; Prajnāpanā [Praj.], Bombay 1918-19, p. 37; Sūtrakṛtāṅga-vṛtti (by Avhayadeva) [SthA.], Bombay 1918-20, p. 479.

10. Niśītha-cūrṇi [ĀvaCū.], Ratlam 1928-29, pp. 192-93; Vasudevahiṇḍi, Bhavnagar 1930, 31, Vol.I, pp. 10-11, indicates that Mathurā is different from Soriyanayaṇa=Soriyanagara= Śauripura, as does the statement of Vol. Ii, p. 356 f., that Soripura was founded by Sorī (Śaurī) of the Uadu-lineage. This negates B.C. Law's statement : 'The Jainasknew it as Sauripura of Sūryapura.' See his *Historical Geography of Ancient India*, Paris 1954, pp. 106-110. The reference to Śauryapura in the Urrarādhyayana-sūtra, *Sacred Books of the East*, Vol. 45, p. 112, may also refer to Śaurīpura and not to Mathurā.

12. Vyavahārasūtra-bhāṣya [VyaBh.], Ahmedabad 1926-28, 5.27-28; Jaina, Life, p. 309 and fn. 488; Deo, *History*, pp. 100, 384.

13. Bṛhatkalapasūtra-bhāṣya [Bṛh-KB], Bhavnagar 1933-38, 1942, Vol. V, gāthā 6275; VyaBh. 5.27-28; Āvaśyakasūtra-niryukti, with commentary of Haribhadrasūri, [ĀvaN.], Bombay 1916-17, Vol. I, p. 453; Shah, *Studies*, pp. 9, 12 and 1 and 2, p. 64 and fn. 1 : "The stūpa was called Devanirmitta, 'erected by gods', probably because the origin was forgotten or because it was erected by a famous artist called 'Deva', or because it was doneated by a certain person called 'Deva'." See, also Vividhatīrtha-kalpa reference, below.

14. Jain, *Life*, pp. 255, 309 and fns. 487-497; Shah, *Studies*, pp. 62 and fn. 5, p. 63 and fns. 1-5; A. Ghosh, ed., *Jaina Art and Architecture*, 3 Vols., New Delhi 1974, Vol. I, pp. 7, 50 and 54. For pañcastūpa-nikāya, see the *Jaina Antiquary*, Vol. III, 2,

p. 45; *Epigraphia Indica*, XIX-XXIII, p. 283, no. 2037; and Nathuram Permi, *Jaina Sāhitya aur Itihāsa*, Bombay 1956 (rev. ed.), p. 497. Note, also that Nirgrantha Śramaṇācārya Guhanandin of the Paharpur Copper-plate Inscription dated G.E. 159, is called 'pañcastūpanikāyika'.

15. K.K. Handiqui, *Yaśastilaka-campū and Indian Culture' [Handiqui, Yaśastilaka]*, Sholapur 1949, pp. 416-17; Yaśastilaka-campū of Somadeva [YaśC], Bombay 1901-03, II. p. 315, VI. 17-18.
16. Vividha-tīrtha-kalpa [ViTK.], Singhi Series No. 4, Bombay, pp. 17-18.
17. Uttarapurāṇa [UttP.], Banaras 1954; Indore V.S. 1975.
18. Bṛhatkathākośa of Hariṣeṇa [BṛhH], ed. by A.N. Upadhye, Singhi Series No. 13, Bombay.
19. Jñātādharmakathā [Jñā.], Bombay 1980, 156.
20. Jain, *Life*, p. 219 and fn. 206, p. 222 and fn. 241; Shah, Studies, p. 83; Vipākasūtra [Vip.], Bombay 1920, 26; V. S. Agrawala, *Ancient Indian Folk Cults*, Banaras 1970, pp. 184, 188 and 189.
21. Vip. 26; Jain, Life, p. 309 and fn. 490.
22. ĀvaN. 445-8; Viśeṣāvaśyaka-bhāṣya [Viś.], Ratlam 1936, 1811-13; Samavāyāṅga [Sam.], Ratlam 1918, 158; Tīrthodgārita [Tīr.], ms., L.D. Institute, Ahmedabad, 605-9; ĀvaCū. I. pp. 230-3; Āvaśyaka-vṛtti (by Malayagiri) [ĀvaM.], Bombay 1928-36, 248-251; Bhaktaparijñā [BhK.], Bombay 1927, 137; Kalpasūtravṛtti (by Dharmasāgra) [Kalp Dh.]. Bhavnagar 1922, p. 38; Samavāyāṅga-vṛtti (by Abhayadeva) [SamA.], Bombay 1918, p. 158.
23. ĀvaN. 1277; ĀvaCū. II. p. 155; Maraṇasamādhi [Mar.], ms., L.D. Institute Ahmedabad, 465; Saṁstāraka [Saṁs.], Bombay 1927, p. 61; Āvaśyaka-vṛtti (by Haribhadra) [ĀvaH.], Bombay 1916-17, p. 667; Bhagavatī-vṛtti (by Abhayadeva) [BhA.], Bombay 1918-21, p. 491.
24. Viś. 1925; ĀvaCū. I. pp. 280, 472; ĀvaN. 471; Kalpasūtra-vṛtti (by Vinayavijaya) [KalpV.], Bombay 1915, p. 163.

25. Niśīthasūtra-bhāṣya [NiśBh], Agra 1957-60, 3200; NiśCū.II., p. 125.
26. ĀvaCū. I. p. 412; Uttarādhyayana-vṛtti (by Śāntisūri) [UttŚ.], Bombay 1916, p. 173.
27. DaśCū. p. 41; SthĀ. p. 255.
28. Jñā. 1980, 17.
29. Jñā. 120.
30. Uttarādhyayana-cūrṇi [UttCū.], p.77; UttŚ. p 120; Mar. 448, Uttarādhyayana-niryukti [UttN.], Bombay 1916, p. 120; VyaBh. 10.595; ĀcaCū. p.112.
31. ĀvaCū. I. p.499; Viś. 1813; Sam. 158; Tīr. 608; Uttarādhyayana-vṛtti (by Kamalasaṁyama) [UttK.], p. 98; ĀvaH. p. 703.
32. UttCU.p.201; UttŚ.p.120; Mar. 448.
33. Mar. 501; UttCū. p. 82, UttŚ. p. 125-26.
34. Or Pāṇḍu Mahurā; ĀvaCū. 472 f.; Moti Chandra, *Trade Routes in Ancient India*, New Delhi 1977, p. 164 and fn. 52; Jain, *Life*, p. 114 and fn. 17.
35. ĀvaCū. I. p. 472.
36. ĀcaCū. 7, p. 281; UttŚ. p. 605; Jain, *Life*, p. 308.
37. Jain, *Life*, p. 114 and fn. 16, p. 115 and fn. 29; Prakash Charan Prasad, *Foreign Trade and Commerce in Ancient India*, New Delhi 1977, p. 74 and fn. 3.
38. See R.P. Kangle, *Kauṭilya Arthaśāstra*, Bombay 1960-1972, 2.11.115 : 'Cotton fabrics from Madhurā, the Aparāntas, the Kaliṅgas, Kāśī, the Vaṅgas, the Vatsas and the Mahisas are the best.'
39. We note, here, V.S. Agrawala's remarks *(Folk Cults*, pp. 184, 188, 189) regarding the image of the yakṣa, Maṇibhadra, fouṞ in the Prakham village of Mathurā and dated to the third century, B.C. He observes that the Maṇibhadra Yakṣa was regarded as the presiding deity of caravan merchants--so attested, too, by the Mahābhārata. He considers the term 'Mahāvīra' was adopted from the vocabulary of Bīr-worship. He goes on to quote the Viṣṇudharmottara-purāṇa which lists 'Maṇibhadra' and identifies the form 'vīra' of the term 'Pañcavīra' with the word 'yakṣa'.

40. Jian, *Life*, pp. 21f, and fn. 206.

41. Shah, *Studies*, pp. 110f. for his observations regarding the features of the Aṣṭamaṅgalas discovered in the Mathurā finds and hiṣ dating them to the second century, B.C. See, also UttCū. p. 82.

42. Moti Chandra, *Trade Routes*, p. 5; Prasad, *Foreign Trade*, p. 74; D. Mitra, 'East India', p. 49 in Ghosh, *Jain Art*.

•

Jainism in Mathurā
(2nd century B.C. to 11th century A.D.)

Dr. V.K. Sharma*

Mathurā-- The sacred city of the Hindus-- described as 'the city of gods' by Ptolemy long back[1] -- has been sacred to the Jainas as well. Tradition recorded in Jaina texts has associated Mathurā with many Tīrthaṅkaras.[2] The spread of Jainism to the various parts of India from its homeland in Bihār was a product of numerous migrations of the Jainas,[3] the first of which occured in the 4th century B.C.[4] One such migration or extention brought the Jaina community of Mathurā.[5] In the latter half of the 19th century archaeological excavations at Kaṅkālī Ṭīlā in Mathurā unearthed from this mound a large number of Jaina antiquities comprising dated and undated sculptures, pillars, pilasters, capitals, āyāgapaṭṭas, umbrellas, railing posts, cross bars, copings, component parts of gateways, bracket-figures, etc.[6] Some Jaina antiquities were found from Śītalā Ghāṭī, Rāni-kī-Manḍī and Manoharpurā localities of Mathurā also.[7]

The earliest Jaina antiquity excavated from Kaṅkālī Ṭīlā, Mathurā has been dated to the 2nd century B.C.[8] The excavated material makes it clear that by the 2nd century B.C. Jainism obtained a firm footing in Mathurā,[9] and also proves that before the beginning of the Christian era Jainism was almost in as rich and flourishing condition at Mathurā as Buddhism.[10] Archaeological data unearthed from Kaṅkālī Ṭīlā also reveals that Jainism had a continuous life in Mathurā from the 2nd century B.C. to the 11th century A.D.[11] In the early centuries of the Christian era Mathurā became the most renowned seat of Jainism in

* Formerly Head of the Department of History, K.R. Post Graduate College, Mathura

north India.[12] During the Kuṣāṇa period which 'dates from late 1st century A.D. to c. A.D. 176,'[13] Jainism was one of the three principal religions of Mathurā, the others being Brāhmaṇism and Buddhism. And, if epigraphical evidence is made to sole criterion of judgment, Jainism appears to have been more popular than Buddhism in Mathurā during the Kuṣāṇa period. In fact, Jaina indcriptions of Mathurā of the Kuṣāṇa period overwhelmingly exceed Buddhist inscriptions of this period found from this city.[14] We have no evidence that Jainism enjoyed royal patronage at Mathurā during the Śuṅga[15] and Kuṣāṇa period.[16] Religious fervour of its adherents and splendid organization of the Jaina Church accounted for the flourishing state of Jainism in this city during the Kuṣāṇa period. Dedicating Jaina inscriptions of the pre-Kuṣāṇa and Kuṣāṇa period found from Mathurā offer incontestable evidence of it.[17] It is true that the Kuṣāṇa rulers did not patronize Jainism but they were certainly tolerant towards it.[18] Jaina inscriptions of Mathurā of the Kuṣāṇa period reveal that Jainism drew its adherents mainly from the trading classes.[19] Financial resources of the Kuṣāṇa state depended on the security of these classes.[20] This was one of the causes of state tolerance towards Jainism during the period of Kuṣāṇa rule.[21] Inscriptions from Kaṅkālī Ṭīlā , Mathurā contain unfamiliar names like Akakā,[22] Oghā,[23] Okharikā[24] and Ujhatikā.[25] These names suggest that probably some foreigners had also embraced Jainism.[26] In fact, conversion of foreigners was not unusual to Jainism.[27] Jainism had converted many foreigners,[28] especially Scythian immigrants.[29]

Probably, the Kuṣāṇa period was the golden age of Jainism in Mathurā during the period under review, because very few Jaina inscriptions, images and other antiquities of subsequent periods have come to light. Fahein who visited Mathurā during the reign of Candragupta II made no mention of Jainism in this city. Only one Jaina inscription of the Gupta period had been so far found at Mathurā.[30] But it would be wrong to assume that Jainism lost its appeal in this

city after the end of the Kuṣāṇa period. In fact, Jainism was a living creed in Mathurā upto the major part of the 11th century A.D. A Jaina stūpa called *devanirmita* i.e. built by gods was constructed at Kaṅkālī Ṭīlā, Mathurā many centuries before Christ.[31] From available evidence it appears certain that a Jaina establishment existed at Kaṅkālī Ṭīlā even before the commencement of the Christian era,[32] and this probably grew around this stūpa, which was an object of great veneration for the Jainas.[33] From the reliefs and dismembered stones of gateways and railings it appears that either a single stūpa under went restoration and embellishment at Kaṅkālī Ṭīlā in Mathurā from time to time or more than one stūpas were built at this site.[34] From the expression *pancāstūpānvaya* used in the Pahārpur copper plate and other sources, it can be inferred that there were five stūpas at Mathurā.[35]

The Jaina stūpa at Kaṅkālī Ṭīlā was a brick structure[36] but, from a rough drawing[37] it appears that it was not a product of solid brick work.[38] The drawing further conveys the impression that it was parthy built of clay.[39] For the elevation and outer form of the Mathurā stūpas we have to depend on carvings on *āyāgapaṭṭas* (tablets of homage), reliefs, etc. Their study reveals that the Jaina stūpa or stūpas of Mathurā bore a striking resemblance with the Buddhist stūpas of this city.[40] Also, these stūpas possessed all characteristics of the Buddhist stūpas of Bharhut and Sāñcī in Central India.[41] The components and representations of stūpas found at Kaṅkālī Ṭīlā do not reveal any characteristic that is unknown in contemporary Buddhist stūpas.[42] The difference consisted in the fact that the stūpas of Mathurā were fairly slender in comparison to their Central India counter parts[43] and decoration in them was also less elaborate.[44]

According to Jinaprabhasūri's Vividha Tīrtha Kalpa, a Jaina text of the 14th century, a golden stūpa adorned with precious stones was erected at Mathurā in honour of the seventh Tīrthaṅkara Supārśvanātha by the goddess Kuberā at the desire of two ascetics named Dharmaruci and Dharmaghoṣa.[45] But, in the time of Pārśvanātha, the twenty-third

Tīrthaṅkara, the golden stūpa was encased in bricks, and a stone temple was built outside it.[46] In the eighth century it was repaired by Bappabhaṭṭisūri[47] in honour of Pārśvanātha.[48] But according to Somadeva's Yaśastilaka'a Jaina romance composed in 959 A.D.,'[49] this stūpa was built by Vajrakumāra during the reign of Putikvāhana, and in this text there is no mention that it was ever made of gold.[50] U.P. Shah's assumption that this stūpa probably enshrined the relics of Pārśvanātha, the twenty-third Tīrthaṅkara,[51] appears to be correct.

The Jaina stūpa of Mathurā was certainly very old. A Jaina inscription suggests that in the middle of the 2nd century A.D. this stūpa had become so ancient that people had forgotten the facts about its origin, and its construction came to be ascribed to gods.[52] This stūpa seems to have existed even in Somadeva's time i.e. at the time of the composition of his Yaśastilaka in 959 A.D., and even at that time it was called devanirmita or built by gods.[53] Opinion varies regarding the antiquity of the Jaina stūpa of Mathurā. U.P. Shah feels that its construction should be assigned to the 8th century B.C.[54] V.A. Smith suggests that the date B.C. 600 for its first erection is not too early.[55] He also opines that the Jaina stūpa of Mathurā is probably the oldest known building in India.[56]

This subject deserves to be examined at length. We have already stated that this stūpa probably enshrined the relics of Pārśvanātha. According to the Jaina Tradition Pārśvanātha died in 777 B.C.[57] i.e. in the 8th century B.C. There is no evidence of the use of baked bricks in the construction of buildings in northern India prior to the 4th century B.C.[58] Therefore, the Jaina stūpa built at Kaṅkālī Ṭīlā in Mathurā, if built in the 8th century B.C., would not have been a brick stūpa. From the rough drawing of this stūpa it is evident that it was built of both bricks and clay. Therefore, originally, it must have been built of clay, and, subsequently, it was transformed into a brick stūpa. We have already stated that this stūpa had much in common with the central Indian stūpas of Bharhut and Sāñcī. The stūpa at Bharhut was

built in the 2nd century B.C.[59] The stūpa at Sāñcī was originally built in the 3rd century B.C.[60] Therefore, originally, the Jaina stūpa at Kaṅkālī Ṭīlā in Mathurā would have been built of clay in the 8th century B.C. or some other date anterior on posterior to it; and it was either built of bricks on transformed into a brick stūpa in the 3rd century B.C., when the stūpas at Bharhut and Sāñcī were built. In any case it could not have been built of bricks or transformed into a brick stūpa earlier than the 4th century B.C., the period when baked bricks first came into use in the construction of buildings in north India. The appellation *devanirmita* applied to the Jaina stūpa at Mathurā should not lead us very far into antiquity, it was probably indicative of the fact that this edifice was held in great veneration by the devotees.[61]

An inscription recording the dedication made by a Śrāvaka named Uttaradāsaka proves that a Jaina Pāsāda (temple) existed at Kaṅkālī Ṭīlā in Mathurā as early as the second century B.C.[62] Another inscription which recorded the gift of a *pāsāda* by Dhāmghoṣā reveals that one more Jaina temple was built at Kaṅkālī Ṭīlā in Mathurā in the 1st century A.D.[63] Fuhrer, who made the largest number of excavations at Kaṅkālī Ṭīlā, held that one of these temples belonged to Śvetāmbara Jainas, and one to Digambara Jainas.[64] There is evidence that Vihāras were also built at Kaṅkālī Ṭīlā for the residence of Jaina monks.[65] We have no data to ascertain the structural pattern of these Jaina Shrines. Most probably, the Vihāras and halls of the temples at Kaṅkālī Ṭīlā were made of bricks, and stone was generally used in the construction of pillars, pilasters, door-frames, windows, parements and drain-channels.[66]

The excavations at Kaṅkālī Ṭīlā at Mathurā also unearthed images of Tīrthaṅkaras Ṛṣabha[67] also called Usabha,[68] Mahāvīra,[69] Neminàthā[70] also called Ariṣṭanemi,[71] Śantināthā,[72] Parśvanāthā,[73] Sambhava,[74] Munisuurta[75] and Sumati.[76] The excavations also brought to light an image of goddess Sarasvatī,[77] who is the presiding deity of learning in both Hindu and Jaina pantheons. This image is not only the earliest

known image of a Jaina Sarasvatī, but is also the oldest representation of this goddess so far found in India.[78] The discovery of these images of the Tīrthaṅkaras is a pointer that the Jainas of Mathurā believed in the historicity of all Tīrthaṅkaras- from Ṛṣabha, the first, to Mahavīrā, the-twenty fourth- as early as the Kuṣāṇa period. It is also evident that worship of the stūpa and the images of the Tīrthaṅkaras was in full swing among the Jainas at Mathurā during the Kuṣāṇa period. Archaeological finds from Mathurā make it clear that the Jainas of this city worshipped the *caitya*-tree, the *dharmacakra*, the *āyagapaṭṭas*, *dhvaja*-pillars, auspicious symbols like the *svastika*, the *Śrīvatsa* mark, the full-blown lotus, a pair of fish, the image of goddess Śarasvati, etc., also during the same period.[79]

Two inscriptions- one belonging to the Gupta period,[80] and the other to the 11th century A.D.-[81] and the discovery of Jaina images of the Gupta period[82] prove that image- worship had come to stay among the Jainas in Mathurā. That it was in vogue among the Jainas in this city in the medieval period also is evident from the discovery of medieval images of Tīrthaṅkaras- Pārśvanātha,[83] Ṛṣabha,[84] Candraprabha,[85] Neminātha-[86] and of Jaina goddesses Ambikā,[87] Cakreśvari,[88] etc., from Mathurā and its immediate neighbourhood. Jaina images of the Kuṣāṇa period were stiff in pone, and lacked expression and grace.[89] But, they attained artistic merit in the Gupta period. A Jina figure of the Gupta period from Mathurā now in the State Museum, Lucknow[90] is one of the finest products of Mathurā school of art.[91] The expression on the face of this Jina figure is suggestive of Supreme bliss.[92] Which comes when passions are burnt in the fire of knowledge.[93] The master sculptor of this Jina figure brilliantly conveyed this idea through expression on its face.[94] In short, spiritual beauty and calm contemplation- characterestics of the Gupta period- pervaded the Jaina figures of this period also.

A study of Jaina inscriptions excavated from Kaṅkālī Ṭīlā reveals that the Jaina church of Mathurā was a closely knit and well organized

body. And, both monks and nuns played a significant role in its affairs. Donations in the form of images,[95] *pāsāds*,[96] *toraṇas*,[97] *āyāgapaṭṭas*,[98] etc., were very often made by Jaina laity, male and female, on the insistence of Jaina monks and nuns.[99]

Both inscriptions and sculptures provide interesting details proving the existence of nuns and the influential position occupied in the Jaina church by nuns and women.[100] Jainism had a large following among the trading classes and lower sections of society and donations for religious purposes came from ironmongers,[101] caravan leaders,[102] dyers,[103] perfumers,[104] bankers,[105] village headmen,[106] workers in metal,[107] treasurers,[108] goldsmiths,[109] courtesans,[110] etc.

In a large number of Jaina inscriptions excavated from Kaṅkālī Ṭīlā, dedications of images mentioned not only their own names, but also of the religious teachers to whose communities they belonged.[111] The official titles of the religious teachers or preachers mentioned in these incriptions are *vācaka*[112] and *gaṇin*.[113] By *vācaka* is meant the teacher and *gaṇin* means head of a school.[114] The schools were called *gaṇa*, their subdivisions were called *kula*, and *śākhā* meant branches.[115] It is important to note that exactly the same division of the Jainas into guṇa, *kula* and *śākhā* is found in a list of Kalpasūtra, one of the canonical works of Śvetambara Jainas.[116] In the inscriptions from Kaṅkālī Ṭīlā we find a mention of *gaṇas* like *vāraṇa*,[117] *koṭṭiya*,[118] etc; kulas like *brahmdāsika*,[119] *sthānīya*,[120] etc; *śākhās* like *vajanāgarī*,[121] *vairī*,[122] etc. Another division of the Jainas of Mathurā was *sambhoga*.[123]

A council for the compilation of Jaina canon was held at Mathurā under the presidentship of Ārya Skandila in the Gupta period.[124] It was an important landmark in the history of Jainism in Mathurā. The Jaina stūpa at Mathurā existed even in the middle of the 10th century A.D., and was still called *devanirmita*. Mahmūd of Ghaznī plundered, burnt and destroyed Mathurā during his invasion of this city in 1018 A.D.[125] But somehow the two Jaina temples at Kaṅkālī Ṭīlā escaped destruction. A donative inscription dated 1023 A.D. and the colossal

image of Tīrthaṅkara Padmaprabhanātha dated 1077 A.D. prove that these temples were used by the Jainas during the greater part of the 11th century A.D., and that their destruction must have occured at a later date.[126]

References :

1. Cunningham, Ancient Geography of India, ed. by S.N. Majumdar, Calcutta, 1924, p. 429.
2. Vividha Tīrtha Kalpa, I, Santiniketan, 1934, pp. 85-86; Jaina Art and Architecture, ed. A Ghosh, I (JAA,I), New Delhi, 1974, p. 50; N.P. Joshi, Mathurā Sculptures, Mathurā, 1966, p. 2.
3. The Age of Imperical Unity, ed. R.C. Majumdar and A.D. Pusalker, Bombay, 1951, pp. 417-18.
4. The Cambridge History of India, I, Cambridge, 1922, p. 167.
5. The Age of Imperical Unity, op.cit, p. 418.
6. V.A. Smith, The Jaina Stūpa and other antiquities of Mathurā, Allahabad, 1901, (JS) Introduction, pp. 1-6; JAA,I, p. 52.
7. JAA,I, p. 52 Fn 6.
8. Epigraphia Indica (EI), Vol. II, New Delhi, 1984, No. 1 and p. 195; S.B. Deo, History of Jaina Monachism, Poona, 1956, p. 99.
9. JAA,I, p. 51.
10. Archaeological Survey of India Report (ASIR), III, Calcutta, 1873, p. 46.
11. J.S., Op.cit., Introduction, pp. 3-4; Jyoti Prasad Jain, The Jaina Sources of the Historyof Ancient India, Delhi, 1964, pp. 230-31; U.P. Shah, Studies in Jaina Art, Banaras, 1955, p. 9.
12. A Comprehensive Historyof India, Vol. II, ed. K.A.N. Sastri, Bombay, Calcutta and Madras, 1957, p. 355.
13. R.C. Sharma, The Splendour of Mathurā Art and Museum, New Delhi, 1994, p. 27.
14. See EI,X, Appendix, Luders List of Brāhmī Inscriptions, pp. 3ff; S.B. Deo, History of Jaina Monachism, Poona, 1956, pp. 100-101; Maruti Nandan Prasad Tiwari, Jaina Pratimā Vigyāna, Varanasi, 1981, p. 18.

15. Maruti Nandan, *Op.cit.*, p. 18.
16. *Ibid*, p. 18; Bhaskar Chattopadhyay, Kushan State and Indian Society, Calcutta, 1975, p. 171.
17. Luders list, *Op.cit.*, pp. 3ff.
18. Bhaskar Chattopadhyay, *Op.cit.*, p. 171; Maruti Nandan, *Op.cit.*, p. 18.
19. Luders List, *Op.cit.*, pp. 3ff.
20. Bhaskar Chattopadhyaya, *Op.cit.*, p. 171.
21. *Ibid*, p. 171.
22. EI, I, No. 11; Luders List, *Op.cit.*, No. 48; Maruti Nandan, *Op.cit.*, p. 18; B.N. Puri, India under the Kushāṇas, Bombay, 1965, p. 152.
23. EI, I, No. 4; Luders List, *Op.cit.*, No. 29; Maruti Nandan, *Op.cit.*, p. 18; B.N. Puri, *Op.cit.*, p. 152.
24. EI, XIX, No. 4; Maruti Nandan, *Op.cit.*, p. 18.
25. Maruti Nandan, *Op.cit.*, p. 18.
26. B.N. Puri, *Op.cit*, p. 152.
27. J.G. Buhler, On the Indian Sect of the Jainas, London, 1903, Fn 4, p. 3.
28. *Ibid*, Fn 4, pp. 3-4; Encyclopaedia of World Art, Vol. VIII, New York, Toronto, London, p. 787.
29. Encyclopaedia of World Art, VIII. *Op.cit.*, p. 787.
30. S.B. Deo, *Op.cit.*, pp. 99-102; See Luders List, Appendix, *Op.cit.*; This inscription is No. XXXVIII-XL in EI, II.
31. JS, *Op.cit.*, p. 13; JAA, I, *Op.cit.*, p. 53.
32. EI, II, No. 1 and p. 195; JS, *Op.cit.*, Introduction, pp. 1-6; JAA, I, *Op.cit*, p. 53.
33. JAA, I, *Op.cit.*, p. 53.
34. *Ibid*, p. 54.
35. U.P. Shah, *Op.cit.*, p. 12, Fn 1; JAA, I, *Op.cit.*, p. 54, Fn 1.
36. Epigraphia Indica, I, Calcutta, 1983, p. 380.
37. JS, *Op.cit.*, Plate III.

38. *Ibid*, p. 10; JAA, I, *Op.cit.*, p. 53.
39. *Ibid*, p. 10; *Ibid*, p. 53.
40. The Imperial Gazetteer of India, II, Oxford, 1908, p. 111; V.S. Agrawala, Master pieces of Mathurā Sculpture, Varanasi, 1985, p. 8.
41. J. Ph. Vogel, Buddhist Art in India, Ceylon and Java, Oxford, 1936, p. 30.
42. JAA, I, *Op.cit.*, Editorial, pp. 6-7.
43. Vogel, Op.cit., p. 30.
44. Archaeological Survey of India Report, 1906-07, p. 147.
45. Vividha Tīrtha Kalpa, *Op.cit.*, pp. 17ff; JS, Op.cit., p. 13; K.K. Handiqui, Yaśastilaka and Indian Culture, Sholapur, 1949, p.432.
46. JS, *Op.cit.*, p. 13.
47. K.K. Handiqui, *Op.cit.*, p. 432.
48. JS, *Op.cit.*, p. 13.
49. K.K. Handiqui, *Op.cit.*, Preface, VII.
50. *Ibid*, pp.432-433.
51. U.P. Shah, *Op.cit.*, p. 12.
52. EI, II, No. XX; JS, *Op.cit.*, pp. 12-13; JAA, I, *Op.cit.*, p. 53.
53. K.K. Handiqui, *Op.cit.*, pp. 432-33; JAA, I, p. 53.
54. U.P. Shah, *Op.cit.*, p. 64.
55. JS, *Op.cit.*, p. 13.
56. *Ibid*, p. 13.
57. JAA, I, *Op.cit.*, p. 16; Jyoti Prasad Jain, Jainism : The Oldest Living Religion, Banaras, 1951, p. 14.
58. The Cambridge History of India, *Op.cit.*, p. 617.
59. A Cunningham, The Stūpa of Bharhut, Varanasi, 1962, p. 14.
60. John Marshall, A Guide to Sanchi, Calcutta, 1918, p. 31.
61. JAA, I, Editorial, p. 7.
62. EI, II, No. 1; Luders List, *Op.cit.*, No. 93; JAA, I, *Op.cit.*, p. 51.
63. EI, II, No. 4; Luders List No. 99; JAA, I, pp. 51-52.

64. JS, *Op.cit.*, Introduction, pp. 1-6.
65. JAA, I, Op.cit., p. 62.
66. *Ibid*, p. 62.
67. Luders List, Op.cit., No. 56.
68. *Ibid*, No. 117.
69. *Ibid*, Nos 18, 28, 31, 112 and 115.
70. and 71. *Ibid*, No. 26; Lucknow Museum No. J8 cited in Maruti Nandan, *Op.cit.*, p. 31, Fn. 13.
72. Luders List No. 27.
73. *Ibid*, No. 110.
74. Lucknow Museum No. J 19 cited in Maruti Nandan, *Op.cit.*, p.31, Fn. 11.
75. Lucknow Museum Np. J20 cited in Maruti Nandan, *Op.cit.*, p.31, Fn. 12.
76. Maruti Nandan, *Op.cit.*, p. 31.
77. Lucknow Museum, No. J 24.
78. Jyoti Prasad Jain, The Jaina Sources......., *Op.cit.*, p. 100.
79. Luders List, *Op.cit.*, pp. 3ff; also see U.P. Shah, *Op.cit.*, pp. 10-11.
80. EI, II, No. XXXVIII-XL.
81. *Ibid*, No. XLI
82. R.C. Sharma, The Splendour of Mathurā Art and Museum, New Delhi, 1994, pp. 157-59 and Figs 65,66.
83. Mathurā Museum, Nos. 12.251; 18.1505.
84. Mathurā Museum, No. 1504.
85. Mathurā Museum No. 86.150; R.C. Sharma, *Op.cit.*, p. 157.
86. R.C. Sharma, Op.cit., p. 157; Mathurā Museum No. 37.2738.
87. R.C. Sharma, Op.cit., p. 159; Mathurā Museum No. D 7.
88. R.C. Sharma, Op.cit., p. 158; Mathurā Museum, No. D 6.
89. JAA, I, *Op.cit.*, p. 67.
90. Lucknow Museum No. J.104.
91. R.C. Sharma, Jaina Sculptures of the Gupta Age in the State Museum, Lucknow, Bombay, p. 152.

92. *Ibid*, p. 152.
93. *Ibid*, p. 152.
94. *Ibid*, p. 152.
95. Luders List, *Op.cit.*, Nos 24, 53 etc.
96. *Ibid*, No. 99; EI, II, No. 4.
97. *Ibid*, No. 93; EI, II, No. 1; Luders List No. 108.
98. Luders List No. 103.
99. Luders List Nos. 22, 24, etc; S.B. Deo, *Op.cit.*, p. 101; B.N. Puri, *Op.cit*, p. 150.
100. Luders List, *Op.cit.*, Nos 67, 18, 21, 24, 50 etc.; JS, *Op.cit.*, pp. 1-6; B.N. Puri, *Op.cit.*, p. 151.
101. Luders List, *Op.cit.*, No. 29; EI, I, No. 4.
102. *Ibid*, No. 30; *Ibid.*, No. 29.
103. *Ibid*, No. 32; *Ibid.*, No. 5
104. *Ibid*, Nos 37, 39, 76; EI, II, No. 16; EI, I, No. 7; ASIR, III, No.20.
105. Luders List No. 41; ASIR, III, *Op.cit.*, No. 9.
106. *Ibid*, No. 48; EI, I, No.11.
107. *Ibid*, No. 54; *Ibid*, No. 21
108. *Ibid*, No. 74; EI, II, No. 23.
109. *Ibid*, No. 95; EI, I, No. 35.
110. *Ibid.*, No. 102; Mathurā Museum No.Q.2
111. *Ibid*, Nos 16, 18, 21 etc; J.G. Buhler, *Op.cit.*, p. 42.
112. Luders List Nos 17, 21, 22 etc; J.G. Buhler, *Op.cit.*, p. 42.
113. *Ibid*, Nos. 34 etc.; J.G. Buhler, *Op.cit*, p. 42.
114. *Ibid*, Nos. 21 etc.; *Ibid*, p. 42.
115. J.G. Buhler, pp. 42-43.
116. *Ibid*, p. 43.
117. Luders List, *Op.cit.*, No. 16, etc.
118. *Ibid*, Nos. 17, 18, 20 etc.
119. *Ibid*, Nos 18, 19, etc.
120. *Ibid*, Nos 22 etc.

121. *Ibid,* Nos 16 etc.
122. *Ibid,* Nos. 22 etc.
123. *Ibid,* Nos 25, 27, 29 etc.
124. J.C. Jaina, Life in Ancient India as Depicted in Jaina Canons, Bombay, 1947, p. 33; S.B. Deo, *Op.cit.*, p. 20.
125. Elliot and Dowson, II, Reprint, Aligarh, 1952, pp. 44-45.
126. JS, *Op.cit.*, Introduction, pp. 1-6.

●

मथुरा में जैन स्तूप का सूत्रपात

डॉ. शिव दयाल त्रिवेदी

स्तूप के सम्बन्ध में दो भ्रान्तियाँ सामान्यतया जनमानस में व्याप्त हैं। पहली यह कि स्तूप बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है और दूसरे इनका निर्माण बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद ही प्रारम्भ हुआ था। यह भी सही नहीं है कि स्तूप आवश्यक रूप से शारीरिक अवशेषों पर बना हुआ स्मारक ही होगा।[1] स्तूप किसी घटना, भावना, उपासना, चेतना अथवा संस्कार का प्रतीक हो सकता है। स्तूप का निर्माण समाज के लिए स्फूर्तिदायक रचना होती थी।[2] चैत्य स्तूप का उल्लेख साहित्य में आया है।[3] चैत्य का अर्थ सर्वथा चिता स्थान न होकर चयनित स्थान भी है।[4] स्वर्ग में विभिन्न सिद्धायतनों के स्तूप तीर्थंकरों के अस्थि अवशेषों पर नहीं बने थे।[5] स्तूप धार्मिक आस्था के प्रतीक चिह्न भी माने गये हैं और उनका 'चल' स्वरूप भी उद्घाटित किया गया है।[6] इस शोध-पत्र का उद्देश्य स्मारक स्वरूप जैन स्तूप का सूत्रपात मथुरा के विशेष सन्दर्भ में स्थापित करने का है।

स्तूप निर्माण की परम्परा कब से प्रारम्भ हुई, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वैदिककाल में मृत व्यक्ति के अस्थि अवशेषों के ऊपर मिट्टी का थूहा बनाने का उल्लेख मिलता है।[7] यह चौकोर (चतुःस्रक्ति) तथा गोल (परिमण्डल) दोनों प्रकार के होते थे। बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण से पूर्व आनन्द से कहा कि हे आनन्द! जैसे चक्रवर्ती राजा के शरीर या धातुओं का सम्मान करते हैं वैसे ही तथागत के शरीर का भी सम्मान करना चाहिए और ऐसे ही चतुष्महापथ पर तथागत के लिए स्तूप बनाना चाहिए।[8] इस संवाद के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि स्तूप निर्माण की परम्परा बुद्ध से पहले विद्यमान थी।

जैन ग्रन्थों में स्तूप के विभिन्न उल्लेखों से भी स्तूप निर्माण-परम्परा अत्यन्त प्राचीन प्रतीत होती है। सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभनाथ के पुत्र

भरत चक्रवर्ती ने एक स्तूप और मन्दिर बनवाया था जिसे सिंहनिषद्या-आयतनं कहा गया है।[9] आवश्यकनिर्युक्ति[10] में कहा गया है:

निव्वाणं चिइगाई जिणस्स इक्खाग सेसयाणं च।
सकहा थूर्भ जिणहरे जायग तेणाहि अग्गित्ति।।

आवश्यकवृत्ति[11] में इसका विस्तार से उल्लेख है। हरिभद्र सूरि ने इस गाथा की व्याख्या करते हुए स्तूप की विशालता और उसमें स्थापित मूर्तियों का उल्लेख किया है। यह सब 'अष्टापद' में हुआ बतलाया गया है जिसे जैन-परम्परा में कैलाश पर्वत माना गया है। वसुदेवहिण्डी[12] में ऋषभ के निर्वाण के उल्लेख में थूभिं शब्द का प्रयोग किया गया है।

मथुरा में जैन स्तूप के सूत्रपात पर विचार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि मथुरा का जैनधर्म से क्या सम्बन्ध रहा है? एक परम्परा के अनुसार 22वें तीर्थंकर अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) का मथुरा जन्मस्थान है।[13] कृष्ण एवं बलराम के चचेरे भाई माने जाते हैं। *विविध-तीर्थ-कल्प*[14] में मथुरा को महत्त्वपूर्ण जैन तीर्थ प्रतिस्थापित किया गया है। विवागसुयं[15] से ज्ञात होता है कि महावीर मथुरा पधारे थे और उन्होंने यहाँ धार्मिक प्रवचन दिया था। बृहत्कल्पभाष्य और निर्युक्ति में संकेत आता है कि मथुरा नगरी में घर बना कर मङ्गल के निमित्त द्वार के ऊपर तीर्थंकर देव की प्रतिमा स्थापित की जाती है, जिसे मङ्गल-चैत्य कहा जाता है।[16] बृहत्कथाकोश[17] में हरिषेण ने मथुरा में ऊँचे-ऊँचे जैन मन्दिरों का उल्लेख किया है। जैन साहित्य में मथुरा की रथयात्रा और अष्टाह्निक महोत्सव का वर्णन आया है।[18] जैन स्तूपों तथा प्रतिमाओं की स्थापना के सन्दर्भ अनेक जैन ग्रन्थों में मिलते हैं। अन्य अनेक जैन-परम्पराओं के साथ भी मथुरा का नाम जुड़ा हुआ है।[19] अभिलेखीय साक्ष्यों, प्रतिमाओं तथा स्थापत्यीय एवं अन्य पुरातात्विक अवशेषों से ज्ञात होता है कि मथुरा में शुंग एवं कुषाणकाल में अनेक जैन मन्दिर, स्तूप आदि विद्यमान थे।[20]

मथुरा में जैन स्तूपों की उपस्थिति के सम्बन्ध में पुरातत्त्व और जैन साहित्य दोनों महत्त्वपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। इस सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्व का तीन पंक्तियों का वह अभिलेख है, जो जैन मूर्ति

की मात्र अवशिष्ट चरण चौकी पर उत्कीर्ण है।[21] यह मूर्ति मथुरा के कंकाली टीले से 1890-91 के उत्खनन में प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता फ्यूहर को मिली थी।[22] इसके ऊपर बनी विशाल आकृति का पूरा भाग खण्डित होकर कहीं खो गया। चरण चौकी का दाहिना भाग भी खण्डित है, इसलिए इस पर उत्कीर्ण लेख भी अपने में पूर्ण नहीं है।[23] हमारे इस शोध-पत्र से सम्बन्धित तीन बाते इस अभिलेख में महत्त्वपूर्ण हैं। ये इस प्रकार हैं: उल्लिखित तिथि, जैनमुनि का नाम और अन्तिम पंक्ति में स्तूप का उल्लेख। जहाँ तक तिथि का सम्बन्ध है, यह संवत् 79 है या 49 जैसे कि विद्वानों के विभिन्न मत है यह मूर्ति निश्चित रूप से कुषाणकाल से सम्बन्धित है।[24] इसमें मुनिसुव्रत[25] या अर्हत् नंद्यावर्त[26] का उल्लेख भी है। तीसरी पंक्ति के अन्त में 'वोद्वे थूपे देव निर्मिते वाक्यांश' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उक्त मूर्ति 'वेद्वा स्तूप' जो देवताओं द्वारा निर्मित था, में स्थापित की गई थी। डा.यू.पी. शाह[27] ने हमारा ध्यान लूडर्स के संशोधित पाठ की ओर आकर्षित किया है। यह इस प्रकार है: 'प्रतिमावो द्वे थूपे देव निर्मिते'।[28] इसका अर्थ हुआ कि दो प्रतिमाएं देव निर्मित स्तूप में स्थापित की गई थीं। डॉ. शाह[29] ने एक उदाहरण देकर अपने इस कथन की पुष्टि की है।

सन्दर्भित स्तूप को देव निर्मित क्यों कहा गया है, इस सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों ने यही व्याख्या प्रस्तुत की है कि स्तूप इतना पुराना था कि लोग उसकी सही निर्माण तिथि का सही अनुमान नहीं लगा सकते थे, अथवा स्थापना की बात विस्मृत कर चुके थे, इसलिए उसे देव निर्मित कहने लगे थे। कुछ विद्वानों ने और भी सम्भावनाएं व्यक्त की हैं। इसे देव नाम के व्यक्ति ने बनवाया होगा या दान दिया होगा। यह देव नामक कला शैली से सम्बन्धित है।[30] तारानाथ[31] ने बौद्ध इतिहास में देव और नाग कलाकारों का उल्लेख किया है। इनमें से किसी भी सम्भावना में कोई बल नहीं है। इससे अधिक बलवती सम्भावना तो यह है कि लोग शुंग काल में बने स्तूप की भव्यता और अलौकिकता के कारण उसे देव निर्मित अभिहित करने लगे हों।

देव निर्मित स्तूप की चर्चा जैन साहित्य में भी हुई है। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ बृहत्कथाकोश[32] में हरिषेण ने बौद्ध धर्म के साथ उत्पन्न

विवाद के सन्दर्भ में मथुरा में पाँच स्तूपों की स्थापना का वर्णन किया है, जो सभी देव निर्मित थे। पहाड़पुर ताम्रपत्र[33] जो वर्ष 159 (478 ई.) का है, में 'पञ्चस्तूप निकायं' का उल्लेख आया है। ये पाँचों जैन स्तूप मथुरा और उसके आस-पास स्थित थे। इनमें से एक अत्यन्त प्रसिद्ध था और देव निर्मित माना जाता था।

सोमदेव ने अपनी रचना 'यशस्तिलक चम्पू'[34] में स्तूप की स्थापना की पृष्ठभूमि में एक कथा का वर्णन किया है। बौद्ध स्पर्धा से ग्रसित उर्विला महादेवी के महल में बज्रकुमार मुनि ने विद्याधरों के साथ अवतरण करके अष्टाह्निका पर्व वाली मथुरा नगरी में गौरव के साथ रथ निकलवाया एवं उस नगरी में तीर्थंकर भगवान् की प्रतिमा सहित एक स्तूप स्थापित किया। इसी से आज भी वह तीर्थ देव निर्मित नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। यह स्थापना मथुरा के राजा पुतिकवाहन के समय में हुई थी। पुतिकवाहन की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है।

14 वीं शताब्दी का जिनप्रभसूरी का बृहद तीर्थकल्प[35] बतलाया है कि मथुरा के स्तूप को धर्मरुचि तथा धर्मघोष नामक दो जैन आचार्यों के लिए कुबेरा देवी ने बनवाया था। इसमें जो मूर्तियाँ थी, उनमें प्रधान मूर्ति सुपार्श्वनाथ की थी। मूलतः यह स्तूप स्वर्ण का बना था और बाद में सुरक्षार्थ इसे ईटों से घेर दिया गया।[36] 8 वीं शताब्दी में बप्प भट्टि सूरी के कहने पर इसका जीर्णोद्धार कराया गया था और उनके अनुरोध पर राजा आम ने प्रस्तर का गुम्बद भी बनवाया था।[37] यशस्तिलक चम्पू में स्वर्ण का स्तूप होने की बात का उल्लेख नहीं है। डॉ. उपाध्ये के अनुसार जम्बूस्वामिचरित में राजमल्ल (विक्रम संवत् 1632=1574 ई.) ने मथुरा में जैन स्तूपों के पुनर्निर्माण की बात कहीं है।[38] हरिभद्र सूरी ने आवश्यक निर्युक्ति की वृत्ति में देव निर्मित स्तूप का उल्लेख किया है।

इस प्रकार जैन साहित्य के अनेक आख्यानों से विदित होता है कि स्तूपों के निर्माण और पुनर्निर्माण की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। डा.यू.पी. शाह[39] का मत है कि कंकाली टीला का देव निर्मित स्तूप सुपार्श्वनाथ का न होकर पार्श्वनाथ का था। यद्यपि जिनप्रभ ने सुपार्श्वनाथ स्तूप की बात कही है, तथापि उनके इस कथन से कि इष्टिका निर्मित

स्तूप के समक्ष पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिस्थापित थी, इस बात को बल मिलता है कि पार्श्वनाथ की स्मृति में यह इष्टिका स्तूप स्थापित हुआ था। पार्श्वनाथ का समय महावीर के निर्वाण के 250 वर्ष पूर्व माना जाता है जो गणना के अनुसार 8 वीं शती ईसा पूर्व आता है।[40] अधिकांश विद्वानों के अनुसार इतने प्राचीन समय में निर्मित स्तूप की स्थापना को कुषाणकाल में लोग भूल चुके थे और इसीलिए अज्ञात प्राचीनता के कारण उसे 'देवनिर्मित' कहने लगे।[41] मुझे यह तर्क अधिक सशक्त प्रतीत नहीं होता। उपर्युक्त तिथियों की गणना के आधार पर यदि माना जाए तो दोनों- स्थापना और अभिलेख के मध्य लगभग एक हजार वर्षों का ही अन्तर पड़ता है। आज हम दो हजार वर्ष पुराने स्मारक को भी देव निर्मित नहीं कहते। निश्चय ही ऐसा पहले भी नहीं हुआ होगा। यह बात केवल आस्था और परम्परा की है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति[42] में जैन तीर्थंकरों के निर्वाण स्थल पर इन्द्र आदि देवताओं के द्वारा स्तूप स्थापित करने का वर्णन किया गया है। यदि जैन साहित्य के सन्दर्भों का अनुशीलन करें तो भी यह मान्यता स्थापित होती है कि दैवी शक्तियों के द्वारा अथवा उनकी प्रेरणा से मथुरा में जैन स्तूप स्थापित हुआ था। मथुरा में कई स्तूप थे। इनमें से कम से कम एक को देव निर्मित होने की मान्यता जैन धर्मानुयायियों में व्याप्त थी। इस कथन की पुष्टि के लिए यशस्तिलक चम्पू[43] का उपयोगी अंश उद्धृत करना समीचीन होगा- 'अतएवाद्यापि तत्तीर्थंदेवनिर्मिताख्यया प्रथते।' इस कथन के पहले जो कथा वर्णित की गई है, वह जैनधर्म के गौरव की प्रयासपूर्वक पुनर्स्थापना से सम्बन्धित है। मथुरा नगरी में अष्टाह्निका उत्सव की परम्परा को जीवन्त बनाने की गाथा है। उसी अवसर पर विद्याधरों के द्वारा मथुरा में स्तूप की स्थापना हुई। अतएव आज भी उस तीर्थ को देवनिर्मित कहा जाता है। सोमदेव की इस रचना का काल 659 ई. माना जाता है।[44] इससे यह प्रमाणित है कि उक्त स्तूप को देवनिर्मित मानने की परम्परा या मान्यता उस समय भी विद्यमान थी। यह मान्यता आख्यानों की स्वीकार्यता तथा उसमें अन्तर्निहित आस्था का प्रतिफल थी। इसी मान्यता को जैन ग्रन्थों के आख्यान रेखांकित करते हैं और तीर्थंकर प्रतिमा की चरणचौकी का अभिलेख भी उसी विशेषण की ओर इंगित करता है।

यदि हम धार्मिक इतिहास और पुरातात्त्विक साक्ष्य को एक साथ रखकर देखे तो ज्ञात होगा कि अनेक समानान्तर मान्यताएँ चलती रहती हैं। इस स्थिति के लिए परोक्ष-अपरोक्ष रूप से धार्मिक स्पर्धा और ईर्ष्या उत्तरदायी होती है। इस आशय को रेखांकित करने वाले अनेक आख्यान धार्मिक ग्रन्थों में मिलते है। स्मारक, मूर्तियाँ आदि भी पारंस्परिक आदान-प्रदान तथा अन्योन्याश्रित प्रभाव के इस तथ्य को उद्‌घाटित करती हैं। स्तूप रचना पर भी हम इसी परिप्रेक्ष्य में विचार कर सकते हैं। वैदिक काल में स्तूप की बात पहले कही जा चुकी है। इसी परम्परा में पार्श्वनाथ के समय में मथुरा में जैन स्तूप स्थापित किया गया होगा जिसका समय 8 वीं शती ई. पूर्व माना जा सकता है। हो सकता है कि यह स्तूप (थूप) का बना रहा हो।[45] मौर्य काल में जब ईटों के अनेक बौद्ध स्तूप बनवाये गये तो इसे भी उसी परम्परा में इष्टिकाओं से आच्छादिक कर दिया गया होगा। जैसा कि अनेक अवशेषों से ज्ञात होता है कि प्रथम शती ई. पूर्व में स्तूप को अनेक प्रतिमाओं और अलंकरणों से सुशोभित किया गया।[46] इसका विस्तार कुषाणकाल में भी हुआ। इसकी देव निर्मित होने की मूल मान्यता कुषाणकाल में भी यथावत् थी जैसा कि पूर्व उल्लिखित अभिलेख से ज्ञात होता है। उसकी यह मान्यता सदियों बाद भी तथैव विद्यमान रही और उसका उल्लेख जैन ग्रन्थों में भी हुआ।

मथुरा से प्राप्त पुरावशेषों से प्रतीत होता है कि मथुरा में एक से अधिक जैन स्तूप थे।[47] कंकाली टीले के बाहर भी जैन स्तूप के होने की सम्भावनाएँ व्यक्त की गई हैं।[48] चूँकि मथुरा के कई पुरातात्विक स्थलों, विशेष रूप से कंकाली टीले से प्रभूत स्थापत्यीय अवशेष मिले हैं और जैन तथा बौद्ध प्रतिमाएँ भी प्राप्त हुई हैं। अतः निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि अमुक अवशेष जैन स्तूप से सम्बन्धित हैं अथवा बौद्ध विहार से। कुछ विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि जैन स्तूप सामग्री को बौद्ध स्तूप से सम्बन्धित होने की भूल हुई है।[49] कतिपय मूर्तियों में स्तूप की उपासना के दृश्य अंकित है।[50] कंकाली टीले पर स्थित जैन स्तूप के स्वरूप का आकलन वहाँ से प्राप्त कुछ पुरावशेषों के आधार पर किया जा सकता है, जिनमें इसकी पूरी आकृति अंकित है।[51]

यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मथुरा में जैन स्तूप की स्थापना बौद्धों से पहले हुई थी। बाद में कम से कम कुषाणकाल तक एक से अधिक जैन स्तूप बन चुके थे। जैन साहित्य में पाँच स्तूपों की चर्चा बार-बार हुई है।[52] जैन ग्रन्थों के सन्दर्भों से यह भी सिद्ध होता है कि मथुरा में स्तूप मध्यकाल तक विद्यमान था।[53]

सन्दर्भ

1. शाह, यू.पी., स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. 53।
2. अग्रवाल, वासुदेव शरण, भारतीय कला, पृ. 162।
3. 'Even the Caitya-Stupas in the above description need not necessarily be funeral mounds.' शाह, वही, पृ. 53 तथा शास्त्री, पण्डित हंसराज, चैत्यवाद समीक्षा, पृ. 93-95।
4. शास्त्री, वही, पृ. 54।
5. शाह,वहीं, पृ. 54।
6. जैन ग्रन्थों के सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि स्तूप प्रतीक चिह्न के रूप में एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाये जा सकते हैं। यशस्तिलक में उल्लेख मिलता है कि विद्याधर आकाश से छत्र, ध्वज, द्वार, स्तम्भ, स्तूप आदि को लेकर मथुरा में उतरे और अष्टाह्निक महोत्सव मनाया गया। सोमदेव, यशस्तिलक, षष्ठ आश्वास।
7. शतपथ ब्राह्मण, एस बी ई,पृ. 424-29।
8. चातुम्महापथे रञ्ञो च I वत्तिस्स थूपं करोन्ति।
   एवं.....धातुम्महापथे तथागतस्य थूपो कातव्वो।।
   प्रो.वी.एस. अग्रवाल द्वारा उद्धृत भारतीय कला, पृ. 162।
9. आवश्यकवृत्ति, पृ. 169।
10. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा, 435।
11. वही,पृ. 169।
12. वसुदेवहिण्डी, पृ. 301।
13. भट्टाचार्य, बी.सी., दि. जैन आइकनोग्राफी, पृ. 80।
14. विविध तीर्थकल्प, पृ. 85।

15. वैद्य, पी. एल., दि विवागसुय, पृ. 45।
16. चैत्य समीक्षा, पृ. 212।
17. बृहत्कथाकोश, कथा 2।
18. यशस्तिलक, षष्ठ आश्वास।
19. शाह, उमाकान्त पी. तथा अरनेस्ट वेन्डर, मथुरा एण्ड जैनिज्म, मथुरा : दि कल्चरल हेरिटेज पृ. 209-213।
20. लखनऊ संग्रहालय के तत्कालीन संग्रहालयाध्यक्ष डा. फ्यूरर ने 1888-99, 1889-90, 1990-91 में ककाली टीले का उत्खनन कराया था और प्रभूत सामग्री प्राप्त की थी जो सम्प्रति राज्य संग्रहालय, लखनऊ में संगृहीत है। इसमें अधिकांश पुरावशेष जैनधर्म से सम्बन्धित हैं। अग्रवाल, वी. एस. शार्ट गाइड बुक टु दि आर्कयोलौजिकल सेक्सन आफ दि. प्रांविशयल म्यूजियम, लखनऊ, पृ. 1।
21. जे 20, राज्य संग्रहालय, लखनऊ चित्र सं. 1, लूडर्स लिस्ट सं. 47, लेख इस प्रकार है;

    पंक्ति 1- सं. 709 व 4 दि. 20 एतस्यां पूर्व्वायां कोट्टिये गणो वैरायां शाखायां

    पंक्ति 2-को अय वृघहस्ति अरहतो नन्दि (आ) वर्तस प्रतिमं निर्वर्तयति

    पंक्ति 3-भार्य्यये श्राविकाये (दिनाये) दानं प्रतिमा वोद्वे थूपे देव निर्गित प्र.......।
22. स्मिथ, वी.ए., दि जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीकुटीज आफ इण्डिया, पृ. 12।
23. दाहिनी ओर एकदम किनारे पर सिंह और मध्य पार्श्व में तीन या चार पुरुष आकृतियाँ रही होंगी, तभी जाकर चरणचौकी (सिंहासन) का पूर्ण आकार बन पाता है। इस प्रकार अपने मूल रूप का आधे से कुछ अधिक भाग ही अवशेष रहा है। स्मिथ, वही, पृ. 12।
24. इस संख्या को अलग-अलग ढंग से पढ़ा गया है। शक संवत् की 78 ई. तिथि मानने से इसका समय दूसरी शती ई. निर्धारित किया जा सकता है। यदि इस संवत् को 66 ई. पूर्व का माना जाय तो 12 ई. आता है। जैन, ज्योति प्रसाद, दि. जैन सोर्सेज आफ दि हिस्ट्री आफ ऐंशियन्ट इण्डिया, पृ. 238।

25. प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी ने 'मुनिसुव्रत' पढ़ा है। श्री महावीर अभिनन्दन ग्रन्थ, भाग-1, पृ. 189-90।
26. स्मिथ, वही, पृ. 12।
27. शाह, उमाकान्त पी., जैन-रूप मण्डन (जैन आइकनोग्राफी) पृ. 15-16।
28. अभिलेख के पाठ में कोई मतभेद नहीं है, केवल शब्दों को तोड़मोड़ कर भिन्न अर्थ प्रस्तुत करने का प्रयास है।
29. शाह, वही, पृ. 16।
30. वही, पृ. 12।
31. शाह, यू. पी., स्टडीज इन जैन आर्ट, पृ. 64।
32. जैन, जगदीश चन्द्र, लाइफ इन एंशियन्ट इण्डिया, पृ. 255-309।
33. हिस्ट्री आफ बेंगाल, प्रथम, पृ. 41।
34. यशस्तिलकचम्पू, षष्ठ आश्वास।
35. विविध तीर्थ कल्प, पृ. 17-18।
36. घोष ए. (सम्पादक), जैन आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर, वाल्यूम 1, पृ. 50।
37. उपध्ये, ए. एन. (सम्पादक), बृहत् कथाकोश, पृ. 379।
38. शाह, स्टडीज, पृ. 63।
39. शाह, स्टडीज, पृ. 63- डा. रमेश चन्द्र शर्मा इस मत से सहमत नहीं हैं। जैन तीर्थ, कंकाली, पृ. 7।
40. महावीर के निर्वाण की तिथि 527 ई. पू. मानी जाती है। जैन, ज्योति प्रसाद, जैन सोर्सेज....., पृ. 53।
41. सर्वप्रथम डा. ए. फ्यूरर ने लखनऊ म्यूजियम रिपोर्ट 1890-91 तथा बी. ए. स्मिथ ने अपनी पुस्तक दि जैन स्तूप में उक्त विचार व्यक्त किये थे। इन्हीं विचारों को परवर्ती विद्वानों ने भी स्वीकार कर लिया।
42. जम्बूदीपप्रज्ञप्ति, द्वितीय वृक्षस्कार, सूत्र 33, पृ. 157-158।
43. चक्रचरणं परिभ्रमय्यार्हतप्रतिविम्बांकितमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठपत्। यशस्तिलक, षष्ठ आश्वास।।214।।
44. देखें इन्ट्रोडक्शन, यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, के. के. हण्डिकी।

45. एक जैन-परम्परा के अनुसार माणिक्य जड़ित स्वर्ण का स्तूप था। जैसे धातु मंजूषा स्तूपों के मध्य रखी जाती थी। उसी प्रकार हो सकता है कि कोई स्वर्ण जटित प्रतीक मिट्टी के थूप के मध्य रखा गया हो।
46. कंकाली टीला से कुषाणकालीन वेदिका स्तम्भ, सूची, उतरंग आदि स्थापत्यीय भाग मिले हैं। देखिए: स्मिथ-दि जैन स्तूप....एवं जोशी, एन. पी., अर्ली आइकन्स फ्राम मथुरा, पृ. 332-367।
47. अग्रवाल वी. एस., इण्डियन आर्ट, पृ. 220।
48. मथुरा में कंकाली टीले के अतिरिक्त अन्य स्थानों से भी जैन प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। दृष्टव्य- कैटलॉग आफ जैन इमेजेज इन मथुरा म्यूजियम- वी. एस. अग्रवाल।
49. J. Fleet observed "the prijudice that all stupas and stone railngs must necessarily be Buddhist, has probably prevented the recognition of Jaina structures and such, and up to present only two undoubtedly Jaina stupas have been recorded." Imperial Gazetter II part III.

    वी. ए. स्मिथ ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है और उन्हीं के शब्दों में- 'In some cases, momuments which are really Jaina have been erroneously described as Buddhist.' Smith, The Jaina stupa.... p. 4ff.
50. राज्य संग्रहालय, लखनऊ सं. जे 583, बी. 207 मथुरा संग्रहालय क्यू. 2, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, जे 555।
51. राज्य संग्रहालय, लखनऊ जे 535 का अग्रभाग (चित्र सं. 2) तथा जे. 255 (चित्र सं. 3), मथुरा संग्रहालय की मूर्ति सं. क्यू 2 में भी स्तूप का पूरा आकार अंकित है।
52. 'पञ्चस्तूपनिकाय' के लिए दृष्टव्य, इण्डियन एन्टीकुटीज, वाल्यूम 111, 2, पृ. 45।
53. कंकाली टीला, मथुरा से मध्यकालीन जैन प्रतिमाएं भी प्राप्त हुई हैं। इनमें कई तीर्थंकर की विशाल और अभिलिखित मूर्तियाँ भी हैं। ये सभी राज्य संग्रहालय, लखनऊ में संगृहीत हैं।

●

देव निर्मित (वोद्वेथूभे) जैन स्तूप*

कुन्दनलाल जैन*

'तित्थयर' के अप्रैल-सितम्बर 1999 के महावीर विशेषांक में पृ. 109-121 तक तथा ऋषभ सौरभ 1992 के पृ. 58 पर आदरणीय श्री प्रो. रमेशचन्द जी शर्मा का विस्तृत आलेख 'मथुरा के जैन साक्ष्य' शीर्षक से पढ़ने को मिला। लेख आधिकारिक प्रमाणों सहित अति उत्तम है तथा शोधपरक एवं उच्च कोटि का है, नये शोधार्थियों को पर्याप्त जानकारियों से भरा पड़ा है, पर एक जरा सी घुण्डी ने दो ऐतिहासिक संस्कृतियों के ज्ञान में आमूल चूल परिवर्तन सा कर दिया है, जिससे पीड़ा हुई है और 'उद्वाहुरिववामनः' की उक्ति को चरितार्थ कर रहा हूँ। हो सकता है यह (Slip of Pen) हो या अनजाने ही द् में मिश्रित 'व्' पर घुंडी चढ़ गई हो और वह 'वोद्वे' शब्द 'बोद्धे' में परिवर्तित हो गया हो जो प्राचीन जैन स्तूप को प्राचीन बौद्ध स्तूप की सिद्धि में महान् ऐतिहासिक और पुरातात्त्विक भ्रान्ति का कारण बना, जो नहीं होना चाहिए था। इससे भावी शोधार्थी भ्रान्ति में फंस जायेगें और गलत निर्णय अपनी भावी पीढ़ी को छोड़ जावेंगे।

सच्चाई यह है कि यह स्तूप वोद्वे (Vodve) नाम से ही प्राचीन पुराविदों में, (भले ही वे भारतीय हो या पाश्चात्य विद्वान्) विख्यात रहा है और प्राचीन ब्राह्मी की अल्पज्ञता वश वे इस 'वोद्वे' शब्द का खुलासा नहीं कर सके और वोद्वे-वोद्वे ही प्रचलित रहा और इसके खुलासा समाधान

1. श्री कुन्दन लाल जी जैन को पत्र में स्पष्ट किया था कि प्रेस की भूल से बोद्व का बौद्ध द्वय हो गया है क्योंकि टाइपिस्ट व प्रेस वाले बौद्ध से तो परिचित है वोद्व से नहीं। मेरे लेख के विवरण व प्रस्तुतीकरण में वोद्व का ही अभिप्राय है बौद्ध का नहीं। प्रतीत होता है कि मेरे पत्र मिलने के पूर्व ही श्री जैन की समीक्षा प्रकाशित हो गई।

* श्रुति कुटीर, 2/68, विश्वास रोड, युधिष्ठिर गली, शाहदरा, दिल्ली 110032 फोन 2412650

की ओर किसी का ध्यान ही नहीं गया और इसके प्राचीन लिपिकाल तथा थूभे शब्द से ही सन्तुष्ट होते रहे।

चूंकि यह जैन स्तूप है अतः इसकी प्राचीनता तथा अन्य जैन जानकारियों के प्रचार-प्रसार हेतु स्व. डा. कामता प्रसाद जी ने अपनी 'अहिंसा वाणी' शीर्षक शोध पत्रिका के महावीर विशेषांक के लिए स्व. डा. के.डी. वाजपेयी सा. से इस स्तूप से सम्बन्धित अच्छा शोधपरक लेख मांगा तो स्व. सम्पादक महोदय ने उसे सहर्ष प्रकाशित कर दिया यह बहुत पुरानी बात हैं। मैं चूंकि उपर्युक्त दोनों ही विद्वानों की शोधपरक प्रवृत्तियों से भली भाँति परिचित रहा हूँ तथा दोनों के साक्षात् दर्शन भी किए हैं। मैं वाजपेयी सा. के बौद्वे शब्द की व्युत्पत्ति को जानने के लिए अति व्याकुल रहा अतः मैंने दिल्ली के तथा बाहर के मूर्धन्य पुरातत्वविदों और खासकर प्राचीन ब्राह्मीलिपि विशेषज्ञों से सम्पर्क साधा और 'बोद्वे' शब्द के विषय में चर्चा एवं विशद विचार विमर्श किया पर सभी का कहना हुआ कि प्रतिमा लेख की मूल छाप (फोटो प्रति) देखे बिना कोई निश्चित निर्णय नहीं किया जा सकता। फलतः वाजपेयी सा. के लेख की फोटो प्रतिलिपि मंगवाई उसमें वह छाप भी विद्यमान थी। मैंने आनन फानन उस छाप की फोटो प्रति सभी विद्वानों को भेजी, फलतः कुछ तो मौन रह गये पर डा. कृष्ण देव जी तथा श्री बहादुरचन्द्र जी छाबड़ा प्रभृति मूर्धन्य प्राचीन ब्राह्मी लिपि विशेषज्ञों ने बताया कि 'वोद्वे' जैसा शब्द कोई स्पष्ट नहीं पढ़ा जाता अपितु 'द्वे' बिल्कुल स्पष्ट और साफ पढ़ा जाता है तथा 'वो' का झुकाव प्रतिमा की तरफ पढ़ा जाता है। अतः स्पष्ट पाठ 'प्रतिमावो द्वे थूभे' प्रतीत होता है। मुझे कुछ शान्ति हुई, कुछ दिनों बाद अचानक स्व. श्री उमाकान्त पी. शाह का आलेख कहीं पढ़ने को मिल गया और उसमें उपर्युक्त पाठ देखकर पूर्ण शान्ति हुई। इस पर सारे नोट्स जो अब तक छितरे-बिखरे पड़े थे उन्हें भली-भांति सम्भालकर इस 'वोद्वे' पर लेख लिखकर पाठकों को आश्चर्य चकित करना चाहता था पर दुर्भाग्य कि अस्वस्थता वश वह कार्य रुका सो रुका ही रहा। अब श्री शर्मा जी का उससे सम्बन्धित लेख देखा तो भूचाल सा दिमाग में आया। मैंने शर्माजी को व्यक्तिगत पत्र भी लिखा। सम्भवतः इस पर अजमेर संगोष्ठी में भी चर्चा हुई होगी और स्मारिका छपने की तैयारी हो रही होगी अतः पू. उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज

को यथार्थ स्थिति से अवगत कराया साथ ही संशय निवारण हेतु 'अर्हत् वचन' पत्रिका को यह लेख भेजा।

यह समस्या जब से मथुरा के कंकाली टीले से खुदाई में प्राप्त लेख से अब तक 'वोद्वे' रूप में ही प्रचलित चली आ रही है। श्री शर्मा जी को लगा कि इतनी बड़ी समस्या का चमत्कारिक समाधान एक जरा सी घुंडी के परिवर्धन से बड़ी सहजता और सरलता से सम्भव है और इसमें 'न सांप मरे और न लाठी टूटे' की उक्ति भली-भाँति चरितार्थ हो सकती है। अतः उन्होंने 'बोद्वे' के 'द्वे' में मिश्रित आधे 'व' के ऊपर एक और चमत्कारिक घुंडी चढ़ाकर 'व' 'ढ' में परिवर्तित कर दिया और बड़ी सरलता और सहजता से पूरा शब्द 'वोद्वे' (Vodve) न रहकर 'बोद्वे' बन गया, रही बात 'व' और 'ब' की सो प्राचीन लिपिकारों में इन दोनों अक्षरों में कोई विशेष अन्तर नहीं माना जाता रहा, फलतः 'वोद्वे' शब्द 'बोद्धे' में बदल जाने से किसी को कोई आपत्ति न रहेगी भले ही एक संस्कृति का अभ्युदय और दूसरी संस्कृति को क्षति पहुंचती रहे, पर पूरे प्रतिमा लेख में छिपे आंतरिक जैन तथ्यों के प्रति श्री शर्मा जी की दृष्टि नहीं पहुंची।

नन्द्यावर्त (डा. के.डी. वाजपेयी का पाठ मुनिसुव्रतस) श्राविका, गण, गच्छ शाखा आदि जैन अन्तर्साक्ष्यों के प्रति शर्मा जी की दृष्टि ओझल ही रही, और यह जैन स्तूप बौद्ध स्तूप में निर्णायक रूप से घोषित कर दिया गया। इस भूल को विगत सात वर्षों में भी संशोधन नहीं किया जा सका।

इन गण-गच्छों के प्रचलन का बहुत पुराना जैन इतिहास विद्यमान है। आचार्य अहर्द्वलि ने एक बार पुण्ड्रवर्धन पुर में समस्त श्रमण संघ के मुनियों के सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें सभी श्रमण सम्मिलित हुए, सम्मेलन के प्रारम्भ से पूर्व आचार्य अर्हद्वलि ने पूछा– सभी मुनिजन आ गये हैं? तो उत्तर मिला हम सब अपने गणों गच्छों सहित उपस्थित हो गये हैं। तब आचार्यश्री को आभास हुआ कि अब जैन धर्म विभिन्न वर्गों में ही बंटकर रह सकेगा। अतः उन्होंने जो जहां से आये थे उनकी तदनुरूप संज्ञाए सुनिश्चित कर दी। जैसे जो गुहाओं से आये थे, उन्हें कुछ को 'नंदि' तथा कुछ को 'वीर' अन्त संज्ञा दे दी, जो अशोक वाटिका

से पधारे थे उनमें से कुछ को 'अपराजित' और कुछ को 'देव' अन्त संज्ञा दे दी, जो पंचस्तूप से आये थे, उन्हें पञ्चस्तूपान्वयी कहा उनमें से कुछ को 'सेन' और कुछ को 'भद्र' अन्त संज्ञा दे दी। इसी तरह विभिन्न संघों, गणों, गच्छों और शाखाओं की स्थापना सुनिश्चित हो गई। विस्तार के लिए इन्द्रनन्दी आचार्य के 'श्रुतावतार' ग्रन्थ में 90 से 102 श्लोकों को देखा जा सकता है।

एक शब्द 'देव निर्मित' है, जो हर तीर्थंकर के समोशरण की रचना देवाधिपति इन्द्र ही करता है अतः यह देव निर्मित कहलाया। भगवान् पार्श्वनाथ के समवशरण की मथुरा में रचना में हुई हो और उसका ही अंश रूप यह स्तूप बाकी बचा रह गया हो और यह देवनिर्मित कहलाया जो सोने व रत्नों का देवों ने बनाया था। जिन्होंने इसका जीर्णोद्धार कराया उन तक को भी इसकी प्राचीनता का ज्ञान नहीं था। वप्पभट्टसूरि ने भी मथुरा के जैन स्तूपों की चर्चा की है। इस तरह अकबर के शासन काल तक यहाँ जैन स्तूप बनते रहे। अकबर की टकसाल के प्रमुख अधिकारी कोलभटानिया (अलीगढ़) के साहु टोडर जब जम्बूस्वामी की निर्वाण स्थली के दर्शनार्थ पधारे तो यहाँ के दस-बीस नहीं, अपितु इनसे अधिक जैन स्तूपों की जीर्ण दशा देखकर उन्हें बड़ा कष्ट हुआ और उन्होंने उन सभी जीर्ण-शीर्ण स्तूपों का जीर्णोद्धार कराया तथा जैन पौराणिक कथा के अनुरूप कुल 514 जैन स्तूपों का निर्माण कराया। विस्तार के लिये अर्हत् वचन में प्रकाशित मेरा पुरस्कृत लेख देखें। यदि यह बौद्ध स्तूप है तो फिर इसे जैन साक्ष्यों में सम्मिलित कर लेने का भी कुछ तो कारण होना चाहिये।

इस तरह 'प्रतिमावो द्वे थूपे निर्मिते प्र.' (तिष्ठिताः') से ऐसा प्रतीत होता है कि दो जैन स्तूपों में दो जैन प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुई हों, ऐसा मेरा अनुमान है कि इनके अतिरिक्त तीन स्तूप और रहे होंगे जिन्हें कराल काल ने कवलित कर डाला अन्यथा यह 'पंच स्तूप' कहलाता रहा हो। इन सब तर्कों और अकाट्य प्रमाणों से श्री शर्माजी सहमत होंगे और उस एक छोटी सी घुंडी का व्यामोह त्याग कर पिछले सौ वर्षों से चली आ रही 'वोद्वे' की कठिन समस्या के सरल समाधान 'बोद्धे' ढूढ लेने के आग्रह से विमुक्त होकर प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व को भ्रष्ट होने से बचा लेंगे।

तित्थयर (अप्रैल-सितम्बर 1999) में पृ. 114-115 पर प्रकाशित डॉ. रमेशचन्द्र शर्मा के लेख – मथुरा के जैन साक्ष्य का अंश

एक ही मूल स्तूप था। कालान्तर में उनकी संख्या 5 हुई। तदन्तर छोटे-मोटे 527 स्तूप बन गये जिनकी पूजा 17 वीं शताब्दी तक होती रही। 1583 ई. में साहु टोडर द्वारा 514 स्तूपों की प्रतिष्ठा की गई। इसके पूर्व आचार्य बप्पभट्टिसूरि 9 वीं शती में ही एक पार्श्व जिनालय स्थापित कर चुके थे और एक महावीर बिम्ब भी भेजा था। सब पुण्य कार्य देवनिर्मित स्तूप (कंकाल) या चौरासी के आस-पास ही सम्पन्न हुए होंगे।

प्राचीनतम स्थान साहित्य तथा अनुश्रुतियों के आधार पर इस स्थल की प्राचीनता सिद्ध करना सम्भव नहीं है। किन्तु पुरातत्त्व ने इस दिशा में हमारा मार्गदर्शन किया है। उत्खनन से प्राप्त कुषाण कालीन एक मूर्ति की पीठ (लखनऊ जे. 20) पर उत्कीर्ण लेख में इसे देव निर्मित बौद्ध स्तूप बताया है, इस महत्त्वपूर्ण मिर्तिलेख को उद्धृत करना आवश्यक है:

पंक्ति 1 सं. 9 व 4 दि 20 एतस्यां पूर्व्वायां कोटट्टिये गणे वैरायां शाखायं।

पंक्तित 2 को अयं वृधहस्ति अरहतो नन्दि (अ) वर्तस प्रतिमं निर्वर्तयति।

पंक्ति 3 नीचे. भार्य्यये श्राविकाये (दिनाये) दानं प्रतिमा बौद्धे थूपे देव निर्मित प्र.।।

अर्थात् वर्ष 79 की वर्षों ऋतु के चतुर्थ मास के बीसवें दिन कोटिय गण की वैर शाखा के आचार्य वृद्धहस्ति ने अर्हत् नद्यावर्त की प्रतिमा का निर्माण कराया और उन्हीं के आदेश से भार्या श्राविका दिना द्वारा यह प्रतिमा देव निर्मित बौद्ध स्तूप में दान स्वरूप प्रतिष्ठापित हुई।

प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी नन्द्यावर्त के स्थान पर मुनिसुव्रतस पढ़ते हैं। विचार-विमर्श में डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह ने मत व्यक्त किया कि लेख को 'प्रतिमावो द्वे थूपे निर्मिते' पढ़ा जाना चाहिये। तदनुसार

प्रतिमा तथा दो स्तूपों का निर्माण हुआ। कुषाण संवत् में इन्हें उत्कीर्ण होने पर मूर्ति का समय 157 ई. आ जाता है। यदि यह काल गणना किसी अन्य संवत् में है तो मूर्ति और प्राचीन मानी जा सकती है। विद्वानों का अनुमान है कि 'इसे देवनिर्मित बताने का तात्पर्य यह है कि पहली-दूसरी शताब्दी ई. में ही यह स्थान इतना प्राचीन माना जाता था कि इसके निर्माण का इतिहास विस्मृत हो चुका था। अतः इसे देवताओं की कृति माना जाने लगा। उपर्युक्त अनेक साहित्यिक सन्दर्भों के प्रकाश में इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँचा जा सकता है कि मूर्ति के अभिलेख में वर्णित देवनिर्मित स्तूप वही है जिसे देवी कुबेरा ने स्थापित किया था।

तीर्थंकल्प ग्रन्थ में यह भी उल्लेख है कि पार्श्वनाथ जी के समय मूल सुवर्ण स्तूप पर ईंटों की परिधि बनवाई गई तथा बाहर पत्थर का एक मन्दिर बना। डॉ. उमाकान्त पी. शाह का मत है कि देवनिर्मित स्तूप पार्श्वनाथ जिन की स्मृति में ही मूलतः बना होगा। जिनप्रभसूरि ने भ्रमवश सुपार्श्व लिखा है। कंकाली से प्राप्त अवशेषों में पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ ही अधिक हैं। किन्तु हमें यह मत मान्य नहीं है कि क्योंकि अन्य लेखकों ने भी इसे सुपार्श्व का स्तूप माना है अतः सभी भ्रान्त नहीं हो सकते। पार्श्वनाथ जी महावीर जी के पूर्ववर्ती थे और उनका समय 900 ई. पूर्व आसपास का माना जाता है। जिस देवनिर्मित स्तूप का पुनःनिर्माण 900 ई. से पूर्व के आसपास हुआ हो वह कम से कम 100 या 200 वर्ष पुराना अवश्य रहा होगा। इस प्रकार साहित्य तथा पुरातत्त्व के समन्वित अध्ययन का सारांश यह है कि कंकाली टीले पर स्थित देव निर्मित स्तूप की रचना का आरम्भ किसी न किसी रूप में अब से लगभग 3000 वर्ष पहले हो चुका था और यथासमय उसके स्वरूप का परिवर्तन होता रहा। अतः निश्चय ही मथुरा का देव निर्मित स्तूप भारत का प्राचीनतम स्मारक था। इस तथ्य से देशी तथा विदेशी सभी विद्वानों ने सहमति प्रकट की है। अतः भारतीय पुरातत्त्व में कंकाली टीले के जैन स्तूप का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

•

प्राचीन जैन मङ्गल चिह्न

डॉ.ए.एल.श्रीवास्तव*

मांगलिकता भारतीय जीवन का अविभाज्य अंग रही है और आज भी है। गाँवों-कस्बों से लेकर नगरों-महानगरों तक फैले जनजीवन में मांगलिक भावना भरी हुयी है। सुख, सम्पन्नता, सौभाग्य, शान्ति, सौन्दर्य और मोक्ष की अभिलाषा इन्हीं मांगलिक भावनाओं के माध्यम से फलीभूत होती है। ऐसी कल्याणी मांगलिक भावना हमारे मन के अन्तस् में गहरे पैठी हुयी है। इसीलिए जब-जब सामाजिक अथवा धार्मिक पर्वोत्सव अथवा अनुष्ठान सम्पन्न किए जाते हैं, तब-तब हर्ष और उल्लास से हमारे मन पवित्र हो उठते हैं। हमारे मन का यह सात्त्विक और उल्लास भरा भाव नाना प्रकार के मंगल चिह्नों से पूरा वातावरण निर्मल और शोभायमान हो जाता है। इसीलिए मन्दिर में प्रवेश करते ही हमारे मन के विकार दूर हो जाते हैं, क्योंकि मन्दिर स्वयमेव एक मङ्गल-भवन होता है। हमारे घरों में पुत्रजन्म अथवा विवाहोत्सव के अवसर पर रँगोली या अल्पना, झालरें और बन्दनवारें भी माङ्गलिक वातावरण का सृजन करती हैं। इनके पीछे भी शुभ कार्य के निर्विघ्न सम्पन्न होने की ललाम लालसा ही तो है।

स्पष्टतः मांगलिक भावना के सृजन के लिए ही अनेक मङ्गल चिह्न रचे गये थे। इनके माध्यम से जनजीवन के लोक-विश्वास और लोकाचार उजागर हुए थे। एकाध उदाहरण- 'सोने के गडुआ गंगाजल पानी' 'आयउ सनमुख दधि अरु मीना', 'सुरभी सनमुख सिसुहिं पियावा', 'लोवा फिर-फिर दरसु देखावा', आदि। इसके अतिरिक्त चौक पूरना, स्वस्तिवाचन, सथिया बनाना आदि भी इसी कोटि में गिनाए जा सकते हैं। चौक या अल्पना में तोता, मोर, हंस, सूर्य, चन्द्र, नदी और नाग के अंकन भी मङ्गल चिह्न ही हैं। ग्राम्य जीवन से प्रकटे ये माङ्गलिक

---

* आवासीय पता- सी 94, सेक्टर-ए, महानगर, लखनऊ-226006, उ.प्र..

चिह्न आगे चलकर ब्राह्मण, जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदायों के धार्मिक अनुष्ठान में यत्किंचित् रूपभेद अथवा नामभेद के साथ अपना लिए गए थे जो उनकी कला में प्रतिबिम्बित हैं। ब्राह्मण, जैन और बौद्ध सभी सम्प्रदायों में और उनके द्वारा रची गयी कलाकृतियों में ये मंगल चिह्न समान रूप से दिखायी देते हैं। इन मङ्गल चिह्नों में प्रमुख हैं स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, कलश, वर्धमान, भ्रदासन, दर्पण, मीन-मिथुन, चक्र, त्रिरत्न, माला, पद्म, कल्पवृक्ष या कल्पलता, पुष्पपात्र, मोदकपात्र, सिंह, हस्ति, वृषभ, सूर्य, चन्द्र, आदि-आदि।

भारतीय लोकजीवन में लोकप्रिय इन मङ्गल चिह्नों में से अपनी आवश्यकतानुसार जैन सम्प्रदाय ने कतिपय मङ्गल चिह्नों को अपनाया, उनकी महत्ता प्रतिपादित की तथा उन्हें कला-फलकों में प्रतिष्ठित भी किया। प्राचीन जैन मङ्गल चिह्न जैन साहित्य और जैन कला दोनों में पाए जाते हैं।

अष्टमङ्गल चिह्नों के उल्लेख जैन साहित्य में पाए जाते हैं। औपपातिकसूत्र (सूत्र 31)[1] में इनके नाम इस प्रकार हैं–

1. सोवत्थिय (स्वस्तिक), 2. सिरिवच्छ (श्रीवत्स), 3. नन्दियावत्त (नन्द्यावर्त), 4. बद्धमान (वर्धमान), 5. भद्दासण, (भद्रासन), 6. कलस (कलश), 7. मसोह (मत्स्य-युग्म), 8. दप्पण (दर्पण)।

उ.पी. शाह की मान्यता है कि इन अष्ट मङ्गल चिह्नों से सिद्धायतनों (जैन मन्दिरों) के सिरदल अलङ्कृत किए जाते थे।[2] रायपसेणियसुत्त (सुत्र 15), अभिधानचिन्तामणि, तिलोयपण्णत्ति (अधिकरण 2, गाथा 22-62) तथा त्रिशष्ठिशलाकापुरुषचरित्र, में भी इन माङ्गलिक चिह्नों के उल्लेख मिलते है।[3] इन अष्टमङ्गल चिह्नों में से कतिपय चिह्नों को महापुरुषलक्षण के रूप में तीर्थंकर-प्रतिमाओं के करतल, पदतल तथा वक्ष पर भी उत्कीर्ण किया गया था। उनमें से कुछ तो तीर्थंकर-विशेष की पहचान के महत्त्वपूर्ण लांछन बन गए जैसे नन्द्यावर्त अथवा स्वस्तिक सुपार्श्वनाथ का, स्वस्तिक अथवा श्रीवत्स शीतलनाथ का और मत्स्य अथवा नन्द्यावर्त अरनाथ का लांछन-विशेष था।

आचारदिनकर (भाग 2, पृ. 143, श्लोक 4-11) में इन अष्टमङ्गल चिह्नों का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। इसके अनुसार, कलश जिन का बिम्ब है, दर्पण स्वयं का साक्षात् करने के लिए है, जिन के पदों से पवित्र होने के कारण भद्रासन पूजनीय है, जिन (तीर्थंकर) के हृदय के सम्यक्ज्ञान का प्रतिरूप श्रीवत्स है जो अनेक वक्ष पर विराजमान है, स्वस्तिक शान्ति का प्रतीक है, नन्द्यावर्त अपने नौ कोणों के कारण नव निधियों का प्रतीक है तथा मत्स्ययुग्म काम-केतु का चिह्न है जो पराजित होने से तीर्थंकर की सेवा में नियुक्त है।[4]

ये अष्टमङ्गल चिह्न जैन कला में भी रूपायित हुए है। प्राचीन जैन मङ्गल चिह्न मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त आयागपटों पर,[5] खण्डगिरि (उड़ीसा) की अनन्तगुम्फा की भीतरी दीवार पर[6] और गुजरात में जूनागढ़ के निकट बाबा प्यारा मठ की गुहा संख्या 'के' सिरदल पर[7] उकेरे पाए गए है। अन्य उदाहरण परवर्ती युग के हैं।

देश भर में जैनधर्म के प्राचीनतम अवशेष मथुरा के कंकाली टीले से प्राप्त हुए हैं जहाँ एक प्राचीन और एक कुषाणकालीन जैन स्तूपों को साक्ष्य मिले हैं। फ्यूहरर द्वारा सन् 1888 से 1891 ई. के बीच कराये गये पुरातात्त्विक उत्खनन में स्तूप की वेदिका के स्तम्भ, उनकी सूचियाँ, कतिपय तीर्थंकर-मूर्तियाँ तथा अनेक चौकोर शिलापट्ट मिले थे जिन्हें लखनऊ-संग्रहालय में स्थानान्तरित कर दिया गया था।[8] इस सामग्री में केवल शिलापट्ट ही हमारे लिए विवेच्य है, क्योंकि इन्हीं पर माङ्गलिक चिह्न उत्कीर्ण हैं। अर्हतों की पूजा के लिए (अर्हत् पूजाये) निर्मित एवं स्थापित ये शिलापट्ट (आयागपट्ट), नागार्जुनकोण्ड के बौद्ध 'आयकखम्भ' और नागरी (राजस्थान) की ब्राह्मणधर्मी नारायणवाटिका की 'पूजा-शिला' के समान मात्र पूजा के लिए थे, उनका वास्तुगत कोई उपयोग न था। उ.प्रे. शाह औपपातिकसूत्र, सूत्र 5 में उल्लिखित 'पुहुमी' अथवा 'पुढवी' (पृथिवी) पट्टों को मथुरा के आयोगपटों का प्रारूप मानते हैं जो ग्रामीण लोकदेवताओं, यक्षों और नागों के लिए पवित्र वृक्षों के नीचे किसी छोटे चबूतरे पर रक्खा जाता होगा।[9]

कंकाली टीले से प्राप्त इन आयागपट्टों में कुछ पर केवल कतिपय मङ्गल चिह्न उत्कीर्ण हैं और कुछ अन्य पर इन माङ्गलिक चिह्नों के बीच

तीर्थंकर की बैठी प्राथमिक प्रतिमा भी अंकित है।[10] ये आयागपट्ट वस्तुतः उस संक्रमणकाल के साक्षी हैं जब प्रतीक-पूजा से मूर्ति-पूजा का विकास हो रहा था। ऐसे आयागपट्ट मथुरा के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान से नहीं मिले हैं।

मुख्यतः मथुरा से प्राप्त आयागपटों पर उत्कीर्ण विभिन्न मङ्गल चिह्नों का संक्षिप्त विवरण और नन्द्यावर्त तथा स्वस्तिक के सम्बन्ध में व्याप्त कतिपय भ्रमात्मक विचारों का विश्लेषण रूप से इस लेख में द्रष्टव्य है। चक्र, पुष्पपात्र तथा रत्नपात्र जैसे कतिपय मङ्गल चिह्न जैन आयागपट्टों पर उत्कीर्ण तो है, परन्तु साहित्य में उन सबकी यथावत् सम्पुष्टि नहीं मिल पाती है।

मंगल चिह्नों का वर्णन

1. **स्वस्तिक**– शान्ति का प्रतीक माना जाने वाला स्वस्तिक दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में सुपार्श्वनाथ का लांछन माना गया है।[11] जैन धर्मावलम्बी स्वस्तिक को 'सिद्धम्' के समकक्ष संपूज्य समझते रहे हैं। आयागपट्टों पर स्वस्तिक के विविध रूप दिखायी देते हैं। मुख्यतः इनके दो रूप द्रष्टव्य हैं। इन भिन्न स्वरूपों की चर्चा नन्द्यावर्त के साथ आगे की जायेगी। स्वस्तिक का अंकन आयागपट्ट सं. जे. 248, जे. 252, 35.2563 पर, खण्डगिरि (उड़ीसा) की अनन्तगुम्फा में तथा जूनागढ़ के निकट बावा प्यारा मठ की गुहा 'के' के सिरदल पर भी है।

2. **श्रीवत्स**– सम्यक् ज्ञान का साकार स्वरूप समझा जानेवाला श्रीवत्स यों तो श्वेताम्बर परम्परा में शीतलनाथ का लांछन माना गया है, परन्तु प्रारम्भिक कतिपय मूर्तियों को छोड़कर प्रायः सभी तीर्थंकरों की मूर्तियों के वक्ष पर इसका अंकन पाया गया है। वस्तुतः श्रीवत्स का यह लांछन ही जैन तीर्थंकर और बुद्ध की मूर्तियों में अन्तर स्पष्ट करता है। माङ्गलिक तथा महापुरुषलक्षण के रूप में श्रीवत्स के शतशः रूप भारतीय मूर्तिकला में पाए गए हैं। श्रीवत्स का अंकन आयागपट्ट सं. जे. 248, जे. 249, जे. 250, जे. 252 तथा जे. 253 पर मिला है। खण्डगिरि (उड़ीसा) की अनन्तगुम्फा में तथा जूनागढ़ (गुजरात) के निकट बावा प्यारा मठ की गुहा सं. 'के' के सिरदला पर भी श्रीवत्स अंकित है।

3. नन्द्यावर्त– नन्द्यावर्त श्वेताम्बर परम्परा में अरनाथ का और दिगम्बर परम्परा में सुपार्श्वनाथ का लांछन है।[12] नन्द्यावर्त के नाम और स्वरूप को लेकर भी विभिन्न विद्वानों में मतभेद है। सिक्कों, मोहरों, अभिलेखों, उत्कीर्णमूर्ति- फलकों तथा अन्य उपकरणों पर दो प्रकार का प्रतीक अंकित पाया गया है– एक चक्र के ऊपर अर्द्धचक्र तथा दूसरा चक्र के ऊपर त्रिशूल हड़प्पाकाल से लेकर कुषाणकाल आनेतक ये दोनों स्वरूप आँके जाते रहे। परन्तु कुषाणकाल से केवल बाद वाला स्वरूप ही अंकित किया गया था। मथुरा के जैन आयागपट्टों (सं. जे. 248, जे. 249, जे. 250, जे. 252, जे. 253, जे. 6869 तथा 48, 3426) पर, खण्डगिरि (उड़ीसा) की अनन्तगुम्फा में तथा जूनागढ़ के निकट बावा प्यारा मठ की गुहा संख्या 'के' के सिरदल पर बाद वाला रूप ही मिलता है। इस चिह्न को जैन कला के सन्दर्भ में विद्वान् नन्द्यावर्त और बौद्ध कला के सन्दर्भ में त्रिरत्न कहते हैं। सिक्कों पर मुद्राशास्त्री इसे नन्दिपद भी कहते हैं। अंग्रेजी में इसी चिह्न को मुद्राशास्त्री टाराइन कहते हैं। टाराइन शब्द टारुस से बना है जिसका अर्थ वृषभ होता है।

यह तो प्रारम्भ में ही हा जा चुका है कि प्रायः सभी माङ्गलिक चिह्न धर्म, जाति, वर्ग आदि के भेदभाव से परे सार्वजनीन थे। परन्तु आगे चलकर जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्मावलम्बियों ने उनमें से जिसे चाहा उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार अंगीकार किया। संयोग से 'चक्र के ऊपर त्रिशूल' जैसा यह प्रतीक नन्दिपद, नन्द्यावर्त और त्रिरत्न के नामों से अभिज्ञात है, यद्यपि रूपाकृति के समान ही यह सर्वत्र मङ्गल चिह्न के रूप में ही प्रयुक्त है। उद्भव के समय इस चिह्न का नाम क्या था, यह बतलाना कठिन है। परन्तु एक बात ध्यान देने की है। माङ्गलिक चिह्नों की सूचियाँ जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण सभी ग्रन्थों में मिलती हैं। उन सभी में नन्द्यावर्त तो है, पर नन्दिपद और त्रिरत्न किसी में नहीं है। त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म और संघ का एकात्मक रूप) नाम तो संभवतः बौद्ध धर्म ने दिया। यों सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण का त्रिरत्न जैनधर्म में भी था, किन्तु उसे इस नाम से अभिहित नहीं किया गया था।

नन्दिपद नाम का पुरातात्त्विक साक्ष्य मुम्बई के निकट 'पटना' पहाड़ी पर मिला है जहाँ इस प्रतीक का रेखांकन है और उसी के नीचे ब्राह्मी अक्षरों में 'णन्दिपअ' (नन्दिपद) लेख भी है। प्रथम शती ई. पू. के अक्षरों वाले इस लेख को भगवानलाल इन्द्रजी ने सर्वप्रथम सन् 1881-82 ई.में बाम्बे, ब्राँच आव रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में प्रकाशित किया था। इससे यह स्पष्ट है कि यह प्रतीक नन्दिपद था जिसका अर्थ प्रसन्नता, सुख और कल्याण का प्रतीक रहा होगा, क्योंकि 'नन्दि' का अर्थ प्रसन्नता, सुख और कल्याण है और 'पद' का अर्थ प्रतीक, जैसे मन्त्रिपद, उच्चपद आदि।

अब विचारणीय है शब्द 'नन्द्यावर्त' जो एक माङ्गलिक चिह्न के रूप में सर्वत्र उल्लिखित मिलता है। यह शब्द भी नन्दिपद के समानार्थक है। 'नन्दि' और 'आवर्त' शब्दों के योग से बने इस संयुक्त पद का अर्थ भी वही हुआ, यानी प्रसन्नता, सुख और कल्याण का आवर्तक यानी निरन्तर वृद्धि।[13]

जहाँ तक चक्र के ऊपर त्रिशूल की आकृति वाले नन्दिपद अथवा नन्द्यावर्त चिह्न की उत्पत्ति का प्रश्न है, सो इसे भारत में कृषि कर्म के आविर्भाव से जोड़ा जा सकता है। कृषि से धान्य की वृद्धि हुई, घरों में अनाज के भण्डार भरने लगे जिससे जीवन में प्रसन्नता, सुख, कल्याण की भावना जागी। कृषिकर्म का प्रमुख साधन वृष या वृषभ था, इसलिए उसकी महत्ता स्थापित हुयी। सम्भवतः गोधन और गोमाता की उदात्त अवधारणा भी इसी युग से बनी होगी। अस्तु, जनजीवन की दृष्टि में वृषभ सुख का पर्याय बना, फिर सम्मानित स्थान मिला और अन्ततः वह पूजनीय मान लिया गया। धर्म और पुरुषार्थ का प्रतीक यह वृषभ नन्दि (प्रसन्नता, सुख) प्रदान करने के कारण ही नन्दी कहलाया। पहले तो साक्षात् वृषभ की पूजा की परम्परा पड़ी जो आज भी गोधन-पूजा के रूप में लोक में प्रचलित है। बाद में वृषभ की आकृति को माङ्गलिक माना गया और अन्त में केवल वृषभ-मुख के प्रतीक नन्दिपद अथवा नन्द्यावर्त को माङ्गलिक चिह्न के रूप में लोकप्रियता मिली।

चम्बल घाटी के शिलाचित्रों में एक चित्रांकन वृषभ के सात मुखों से बनाया गया है।[14] पञ्चमार्ग तथा जनजातीय सिक्कों पर भी वृषभ

के साथ इस प्रतीक का अंकन मिला है।[15] वृषभ का मुख चक्र है, उसके ऊपर अगल-बगल दो सींगों तथा बीच में मस्तक का उठान है और चक्र तथा सींगों के मिलन-बिन्दु से लगी दो पत्तियाँ वृषभ के कान के स्थान पर बना दी गयी हैं। नन्द्यावर्त शब्द नन्दिपद की अपेक्षा अधिक हितकर था क्योंकि उसमें नन्दि (सुख) की निरन्तर संवृद्धि की माङ्गलिक भावना थी। ऐसा जान पड़ता है कि जब यह चिह्न नन्द्यावर्त के रूप में अधिक लोकप्रिय हो गया होगा तभी माङ्गलिक चिह्नों की सूचियाँ बनी होंगी। सम्भवतः इसीलिए उनमें नन्दिपद के स्थान पर नन्द्यावर्त का ही परिगणन किया गया। त्रिरत्न, सम्भव है, बौद्धों ने और बाद में नामांकित किया हो। एक बात निर्विवाद है कि चाहे जैनधर्म हो या बौद्धधर्म, इस प्रतीक को एक माङ्गलिक चिह्न के रूप में ही स्वीकार किया गया था।

वर्तमान समय में जैन मतावलम्बी स्वस्तिक प्रतीक को ही नन्द्यावर्त मानकर उसका अंकन करते हैं। प्रभाशंकर ओ. सोमपुरा ने 18 वें तीर्थंकर अरनाथ के लांछन नन्द्यावर्त का रेखांकन स्वस्तिक के ही आलंकारिक रूप में किया है।[16] पृथिवीकुमार अग्रवाल[17] ने भी एक जैन संगोष्ठी में औपपातिकसूत्र तथा आचारदिनकर के आधार पर स्वस्तिक के ही आलंकारिक स्वरूप को नन्द्यावर्त बताया था। उनके अनुसार, औपपातिकसूत्र में प्रतिदिक् नवकोणाः स्वस्तिकविशेषः रुधिगमयः[2] और आचारदिनकर में 'अतश्चतुर्धा नवकोणाः नन्द्यावर्ताः' वाक्यांश नन्द्यावर्त को नव कोणों का बताते हैं। यों अभी तक औपपातिकसूत्र तथा आचारदिनकर के उल्लेखों से किसी स्पष्ट आकृति का अनुमान लगा पाना सहज नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि औपपातिकसूत्र का कथन स्पष्ट रूपसे नन्द्यावर्त को स्वस्तिकविशेष बतलाता है।

यदि आलंकारिक स्वस्तिक को ही नन्द्यावर्त मान लिया जाए तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शुंग-कुषाणकालीन कला में विशेषकर जैन कला में यह प्रतीक अनुपस्थित क्यों है? साहित्य में जिन अष्टमङ्गल चिह्नों को गिनाया गया है, उनमें नन्द्यावर्त सर्वत्र है। तो फिर अष्टमङ्गलों का अंकन करने वाले कंकाली टीला (मथुरा) के आयागपट्टों पर यह माङ्गलिक चिह्न अंकित क्यों नहीं? जब तक हम बौद्धकला में त्रिरत्न कहे जानेवाले मांगलिक चिह्न को जो आयागपट्टों पर अनेकशः रूपायित

हैं, नन्द्यावर्त नहीं स्वीकार करते हैं, तब तक उपर्युक्त प्रश्न निरुत्तरित ही रहेगा।

जिस आंलकारिक स्वस्तिक को नन्द्यावर्त माना जा रहा है। वह भारतीय कला में बहुत बाद में आया। कम से कम गुप्तकाल से पहले की प्रतीकात्मक कही जानेवाली कला में उसका नितान्त अभाव है। आकल्पनात्मक स्वस्तिक पहली बार 7 वीं से लेकर 11 वीं शतीं के बीच ब्राह्मणधर्मी मन्दिरों में मिले हैं, किसी जैनपरिसर में नहीं। तमिलनाडु में महाबलीपुरम के निकट एक पहाड़ी गुफा के बाएँ पार्श्व में बने रामानुज मण्डपम् के प्रवेशद्वार के ऊपर चैत्य गवाक्ष में एक आकल्पनात्मक स्वस्तिक बना है। पल्लवकालीन 7 वीं शती की इस गुफा में गोवर्धनधारी कृष्ण का भी अंकन है और उसके पार्श्व में शंख भी उत्कीर्ण है। कृष्ण और शंख के सन्दर्भ में उकेरे जाने से इस प्रतीक का वैष्णव होना सिद्ध होता है। तमिलनाडु के ही तंजाउर नगर में चोल नरेश राजराज प्रथम द्वारा 11 वीं शती ई. में बनवाये गए बृहदीश्वर मन्दिर के मुखमण्डप की एक पार्श्व भित्ति पर इसी प्रकार के आलंकारिक स्वस्तिकों वाली एक जाली है। बृहदीश्वर मन्दिर के पीछे बने सुब्रमनियम (कार्त्तिकेय) मन्दिर की एक खिड़की की जाली भी इसी प्रकार के विशेष स्वस्तिकों से बनायी गयी है।[18] अहिच्छत्रा (उत्तरप्रदेश) से लगभग 8 वीं शती ई. की ईट का एक खण्डित भाग मिला है जिस पर आकल्पनात्मक स्वस्तिक की एक पंक्ति का अलंकरण है।[19] डॉ. जगदीश गुप्त ने भी मध्यप्रदेश के चम्बल घाटी क्षेत्र तथा साग-भोपाल क्षेत्र में सबाहु स्वस्तिकों के साथ-साथ आकल्पनात्मक स्वस्तिकों के चित्रांकन का उल्लेख किया है।[20] अस्तु, आलंकारिक स्वस्तिक को भले ही बाद में जैन मतावलम्बियों ने नन्द्यावर्त मानकर उसे पूजा हो, परन्तु उससे पहले सम्पूर्ण जैन कला में इस प्रतीक का अभाव है।

ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि पहले बौद्ध धर्मावलम्बियों और जैन धर्मावलम्बियों दोनों में एक ही चिह्न नन्द्यावर्त और त्रिरत्न के नाम से प्रचलित था। कालान्तर में किसी कारणवश जैन और बौद्ध धर्मावलम्बियों में कोई मन-मुटाव हो गया होगा और यह इतने विकराल रूप में हुआ होगा कि साम्प्रदायिक सद्भाव के सभी समीकरण छिन्न-भिन्न

हो गए होंगे। मथुरा स्थित जैन और बौद्ध मतावलम्बियों के बीच हुए विवाद की जानकारी व्यवहारसूत्रभाष्य, बृहत्कथाकोश, यशस्तिलकचम्पू, विविधतीर्थकल्प आदि कई जैन ग्रन्थों में प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों में दिए गए कथानकों के अनुसार एक बार बौद्धों ने एक जैन स्तूप पर जबरन अधिकार कर लिया था, परन्तु स्थानीय शासक ने बीच-बचाव करके वह स्तूप पुनः जैन मतावलम्बियों को दिवा दिया था।[21] ऐसी स्थिति में जैनधर्मवालों ने अपना माङ्गलिक और पूजनीय माङ्गलिक चिह्न नन्द्यावर्त बौद्ध त्रिरत्न से भिन्न बना लिया होगा। भिन्न बनाते समय उन्होंने स्वस्तिक को आलंकारिक स्वरूप इसलिए दिया होगा क्योंकि स्वस्तिक भी तो उनका एक प्रतीक था। अनुमानतः यह घटना 1. वीं शती ई. के बाद घटी होगी और तभी से जैन मतावलम्बियों ने स्वस्तिक के आकल्पनात्मक स्वरूप को अपना नन्द्यावर्त बनाया होगा। नन्द्यावर्त चिह्न की सरल परिचित एवं व्याख्या विचारणीय है। नन्दी का अभिप्राय गोवंश से है। यह प्राचीन काल में अर्थ व धर्म का पर्याय था। गौ का पालना सेवा सुश्रूषा पुण्यार्जन माना जाता था। उसके चरण (खुरन्यास) से भूमि अथवा भवन पवित्र व शुभ माना जाता था। जब गौ या बने वंशा का आवागमन (नन्द्यावर्तन) होता था तो उस वेला को महनीय मानते थे आज भी गोधूलि के समय विवाह आदि मङ्गल कार्यों की परम्परा है। नद्यावर्त चिह्न गौ के खुर से बहुत मिलता है अतः इस शोभ चिह्न को नन्दी पाद का गोपाद मानना उचित प्रतीत होता है- सम्पादक।

मथुरा के आयागपट्टों पर स्वस्तिक के दो रूप मिलते हैं- एक सामान्य सीधी रेधाओं से बना और दूसरा गोल भुजाओं से बना। परवर्तीकालीन जैन साहित्य के आलोक में कतिपय विद्वान् आयागपट्टों के पहले स्वरूप को स्वस्तिक और बाद वाले स्वरूप को नन्द्यावर्त मानने लगे हैं। यदि वे सही हैं तो आयागपट्टों पर अंकित त्रिरत्न सरीखे चिह्न को क्या पहचान देंगे?

4. वर्धमान– वर्धमान को उ.पी. शाह ने 'पाउडर फलास्क' बताया है।[22] वर्धमान शब्द का अर्थ 'निरन्तर वृद्धि करनेवाला' अथवा एक विशेष प्रकार की बनी तश्तरी या पात्र भी होता है। सम्भवतः इसी आधार पर वासुदेवशरण अग्रवाल ने वर्धमान का अर्थ 'सराव सम्पुट' कहा है।

सराव का अर्थ भी मिट्टी का सकोरा (कटोरेनुमा पात्र) होता है। एक सकोरे के ऊपर ढक्कन के समान उलटकर रक्खा दूसरा सकोरा वर्धमान या सराव सम्पुट होता है।[23] आयागपट संख्या जे. 249 पर ऊपरी सिरे पर अन्त में वर्धमान का अंकन उपलब्ध है।

5. **भद्रासन**– भद्रासन अथवा आसन भी तीर्थंकर के बैठने से पवित्र होने के कारण माङ्गलिक चिह्न की कोटि मे आता है। आयागपट्ट जे. 249 के ऊपरी तथा निचले किनारे पर चार-चार प्रतीक हैं। ऊपर क्रमशः मीन-मिथुन, भद्रासन, श्रीवत्स और वर्धमान तथा नीचे क्रमशः उलटा नन्द्यावर्त पुष्पपात्र, भद्रासन और मङ्गल कलश। इस आयागपट्ट पर आसन के चिह्न ऊपर और नीचे के एक दूसरे से भिन्न हैं। उ. पी. शाह इन दोनों की पहचान संदिग्ध मानते हैं।[24] आयागपट जे. 250 पर तथा खण्डगिरि (उड़ीसा) की अनन्तगुम्फा की भीतरी दीवार पर भी भद्रासन का अंकन मिला है।

6. **कलश**– आचारदिनकर में कलश को जिनका बिम्ब बताया गया है। वैसे कलश या मङ्गलकशल या पूर्णकलश माङ्गलिक और पूर्णता के प्रतीक हैं। पद्मगुच्छ और जल से परिपूर्ण मङ्गलकलश जैन आयागपट्टों के साथ-साथ बौद्ध छत्रों तथा द्वारवेष्टनियों पर उकेरे अष्टमाङ्गलिक चिह्नों में सम्मिलित है। मथुरा से मिले आयागपट्ट सं. जे. 249 जे. 250 और जे. 252 पर कलश का मङ्गल चिह्न उत्कीर्ण है।

7. **मत्स्य-युग्म**– मीन अथवा मीन-मिथुन भारतीय जीवन में युग-युगों से एक प्रतिष्ठित प्रतीक माना जाता रहा है। शोभा, सौभाग्य, आरक्षा एवं सृजन के लिए मीन की महत्ता स्वीकार की गयी है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर आज तक हमारे जीवन में मीन के माध्यम से कल्याण की कामना की जाती रही है। यहाँ तक कि शाकाहारी लोग भी मीन-मिथुन के माङ्गलिक स्वरूप में पूर्ण आस्था रखते हैं।

मथुरा के कई आयागपट्टों पर मत्स्य-युग्म का मङ्गल चिह्न उत्कीर्ण है। एक आयागपट्ट पर एक विशाल स्वस्तिक की चारो गोल भुजाओं के भीतर श्रीवत्स, भद्रासन और लघु स्वस्तिक के साथ मत्स्य-युग्म भी है (जे. 250)। दूसरे आयागपट्ट (जे. 252) पर बीच में चार त्रिरत्न हैं,

ऊपरी छोर पर क्रमशः स्वस्तिक, श्रीवत्स एवं श्रीफल तथा निचले छोर पर श्रीवत्स, स्वस्तिक, पुष्पपात्र, कमण्डलु, रत्नपात्र एवं भद्रासन के बीच मत्स्य-युग्म भी है। आयागपट संख्या जे. 249 पर भी मीन-मिथुन से ही मिली तीर्थंकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा के पीछे बने नागफणों पर अष्टमाङ्गलिक चिह्न हैं। उनमें मत्स्य-युग्म भी है।

8. **दर्पण**– जैन साहित्य में परिगणित अष्टमङ्गल चिह्नों में सम्मिलित दर्पण चिह्न का अंकन कम से कम अयागपटों पर मुझे नहीं दिखायी दिया। बाबा प्यारा मठ की गुहा संख्या 'के' के सिरदल के सभी चिह्न स्पष्ट नहीं हैं। सम्भव है, उनमें दर्पण को स्थान मिला हो। आयागपट्टों पर दर्पण के अंकन का अभाव निश्चितरूप से हमारे समक्ष एक प्रश्न खड़ा करता है।

9. **चक्र**– अष्टमङ्गलों में कोई स्थान न रखते हुए भी जैन कला में चक्र का संपूज्य आकलन पाया जाता है। एक आयागपट्ट के केन्द्र में 16 अरों वाला एक चक्र है। इसको घेरकर तीन और घेरे हैं जिनमें क्रमशः 16 नन्द्यावर्त, 8 दिक्-कुमारियाँ तथा एक महाहार है। वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस आयागपट्ट को चक्रपट्ट कहा है (जे. 248)।[25] एक अन्य आयागपट्ट पर चक्र के माङ्गलिक चिह्न को स्तम्भ के शीर्ष पर प्रतिष्ठापित किया गया है (जे. 249)। तीर्थंकर प्रतिमाओं की चरण चौकी के बीच में प्रायः धर्मचक्र उत्कीर्ण रहता है और उसके अगल-बगल उपासक एवं सिंहाकृतियाँ होती हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं के करतल एवं पदतल पर जो माङ्गलिक चिह्न उकेरे गए थे, उनमें चक्र का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ऐसी मान्यता है कि तीर्थंकरों की मूर्ति-निर्माण से पहले मङ्गल चिह्न के रूप में धर्मचक्र की पूजा की जाती थी। जैन धर्म में यह भी माना जाता था कि तीर्थंकर को 'केवल' ज्ञान प्राप्त हो जाने पर धर्मचक्र उनके आगे-आगे चलता है–

> **सहस्रारं इसद्दीप्त्या सहस्रकिरणद्युतिं।**
> **धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानास्थानयोरगात्।।**[26]

10. **पुष्पपात्र**– पुष्प और माला जैनेतर सूचियों में माङ्गलिक द्रव्य कहे गए है। देवार्चन में पुष्प और पुष्प-मालाओं का उपयोग प्राचीन काल

से ही प्रचलित रहा है। जैन अष्टमङ्गलों में इस चिह्न की गणना भले ही न हो, फिर भी आयागपट्टों पर इसे देखा जा सकता है। इस चिह्न की आकृति से स्पष्ट होता है कि वृक्षों के बड़े पत्तों से बनाए गए दोने में पुष्प अथवा पुष्पमालाओं को रक्खा दिखाया गया है। सम्भवतः जल और पुष्प सभी सम्प्रदायों की देवपूजा में अपरिहार्य थे। आयागपट्ट संख्या जे. 252 के निचले किनारे पर एक पंक्ति में जो अष्टमङ्गल उकेरे गए हैं उनमें तीसरे स्थान पर पुष्पपात्र है। आयागपट्ट संख्या जे. 249 पर पुष्पपात्र निचले किनारे पर दूसरे स्थान पर अंकित है।

11. रत्नपात्र– आयागपट्ट संख्या जे. 252 पर निचले किनारे पर छठे स्थान पर जो चिह्न अंकित है उसकी आकृति वेसनगर से प्राप्त कल्पवृक्ष-शीर्ष से लटकते रत्नपात्र जैसी है। यह कौन-सा मङ्गल चिह्न है, यह अभी कह पाना सम्भव नहीं है।

इसे अतिरिक्त जिन-माता त्रिशला के चतुर्दश स्वप्नों में तथा 24 तीर्थंकरों के लांछनों में भी श्रीवत्स, नन्द्यावर्त और कलश का परिगणन किया गया है।[27]

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

1. उ. पी. शाह, 'एवोल्यूशन ऑव जैन आइक्रोग्राफी एण्ड सिम्बॉलिज्म, आस्पेक्ट्स ऑव जैन आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर, अहमदाबाद, 1975, पृ. 67, टिप्पणी 40।
2. वही, पृ. 60।
3. रमेशचन्द्र मजूमदार (सं.), एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई, 1953, पृ. 426, हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, भोपाल, 1962, पृ. 349-50।
4. उ. प्रे. शाह, द्रष्टव्य ए. घोष (सं.), जैन आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर, वाल्यूम 3, दिल्ली, 1957 पृ. 471।
5. वी. ए. स्मिथ, द जैन स्तूप एण्ड द अदर एण्टीक्विटीज ऐट मथुरा, इलाहाबाद, 1901।
6. देबाला मित्रा, उदयगिरि एण्ड खण्डगिरि, नई दिल्ली, 1960, पृ. 47।
7. जेम्स बर्जेस, रिपोर्ट ऑन द एण्टीक्विटीज, ऑव काठियावाड़ एण्ड कच्छ, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, न्यू इम्पीरियल सीरीज 2, लन्दन

1876, पृ. 139 तथा आगे; द्रष्टव्य ए. घोष (सं.), उपर्युक्त, वाल्यूम 1, दिल्ली 1974, चित्र-फलक 5।

8. एन. पी. जोशी, 'कंकाली की पूरा सम्पदा', जैन निबन्धमाला, रामपुर, 1977 पृ0 84।
9. उ. प्रे. शाह, स्टडीज इन जैन आर्ट, बनारस 1955, पृ. 69; वासुदेवशरण अग्रवाल, इण्डियन आर्ट, वाराणसी 1965, पृ. 232।
10. द्रष्टव्य राज्य संग्रहालय, लखनऊ प्रदर्श संख्या जे. 249 (संप्रति राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में), जे. 250, जे. 252 तथा जे. 253।
11. एन. पी. जोशी प्राचीन भारतीय मूर्तिविज्ञान, पटना 1977, पृ. 215।
12. वही, पृ. 215-16।
13. 'नन्दिपद' और 'नन्द्यावर्त' शब्दों की व्युत्पत्ति और अर्थों के लिए देखें मोनिअर विलियम्स, संस्कृत-इँग्लिश डिक्शनरी।
14. द्रष्टव्य श्यामकुमार पाण्डे, 'इण्डियन रॉक पेण्टिंग्ज; स्टडी इन सिम्बलॉजी, मार्ग, वाल्यूम 28, सं. 4 (सितम्बर 1975) चित्र फलक 6/3।
15. द्रष्टव्य ए. एल. श्रीवास्तव, भारतीय कला प्रतीक, द्वितीय संस्करण, इलाहाबाद, 1999, पृ. 36, चित्र 134, 135 एवं 181।
16. द्रष्टव्य प्रभाशंकर ओ. सोमपुरा, भारतीय शिल्प- संहिता, बम्बई, 1975, पृ. 200, चित्र 18।
17. राज्य संग्रहालय, लखनऊ में 28-29 जनवरी, 1972 को, आयोजित जैन संगोष्ठी में प्रस्तुत प्रपत्र, द्रष्टव्य संग्रहालय-पुरातत्त्व पत्रिका, लखनऊ सं.9।
18. महाबलीपुरम तथा तंजाउर के ये उदाहरण दिसम्बर 1983 में लेखक द्वारा स्वयं देखे एवं रेखांकित किए गए थे।
19. द्रष्टव्य के. एम. श्रीमाली, हिस्टरी ऑव पंचाल, खण्ड 1, दिल्ली, 1983, चित्र फलक 46।
20. जगदीश गुप्त, प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला, दिल्ली 1967, पृ. 418।
21. वासुदेवशरण अग्रवाल, उपर्युक्त, पृ. 231।
22. उ. प्रे. शाह, 'एवोल्यूशन ऑव जैन आइक्रोग्रैफी एण्ड सिम्बॉलिज्म' आस्पेक्ट्स ऑव जैन आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर, पृ. 60।

23. 'वर्धमान' तथा 'सराव' शब्दों के लिए देखें संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, सं. चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा तथा पं. तारिणीश झा, इलाहाबाद 1977।
24. उ. प्रे. शाह, उपर्युक्त, पृ. 49।
25. वासुदेवशरण अग्रवाल, उपर्युक्त, पृ. 232।
26. तिलोयपण्णत्ति, 4.913; हरिवंशपुराण, 3.29।
27. त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित्र एवं प्रवचनसारोद्धार, द्रष्टव्य बी. सी. भट्टाचार्य, जैन आइक्नोग्रैफी, पृ. 49।

चित्र-परिचय

1. जैन आयागपट, मथुरा, लखनऊ संग्रहालय सं. जे-249 (अब राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में)।
2. जैन आयागपट, मथुरा, लखनऊ संग्रहालय, सं. जे- 250।
3. आकल्पनात्मक स्वस्तिक, रामानुज मण्डपम, महाबलीपुरम (तमिलनाडु)।
4. आकल्पनात्मक स्वस्तिक की जाली, बृहदीश्वर मन्दिर, तंजाउर (तमिलनाडु)।
5. तीर्थंकर अरनाथ का लांछन नन्द्यावर्त (प्रभाशंकर ओ. सोमपुरा)।
6. आकल्पनात्मक स्वस्तिक-पंक्ति से अलंकृत ईंट, अहिच्छत्रा (उत्तरप्रदेश)।
7. नन्दिपद की आकृति एवं लेख णन्दिपअं, पटना पहाड़ी (मुम्बई के निकट)।
8. वृषभ-शीर्षों से बना शिलाचित्र, चम्बल घाटी (मध्य प्रदेश)।

●

The Railing of the Jaina Stūpa at Mathura

Dr. Harihar Singh*

The Jaina stupa at Kankali Tila in Mathura, according to the literary[1] and epigraphical evidence[2], is a pretty old but the available archaeological remains, preserved in the Mathura, Lucknow and other museums, hardly go beyond the second century B.C. This was due to the fact that the stūpa had been renovated more than once and consequently it bequeaths us materials belonging to different strata of time. According to V.S. Agrawala[3] the original stūpa at Kankālī Ṭīlā was a small mound of earth, later it was converted into a brick stūpa, and in the third stage it was transformed into a stone stūpa with the addition of a large stone railing and geteways with a good deal of carving. The excavations at Kankālī Ṭīlā have revealed a large number of sculptures and architectural pieces which belonged to two stūpas, one built in the second century B.C. and the other in the first century A.D. The two stūpas can also be stratified by their railings, while the railing pillars of the early stūpa (Śuṅga period) are octagonal in section and bear decoration of several varieties of lotus flowers,[4] those of the later stūpa (Kuṣāṇa period) are square and carry divine and human figures.[5] The Jaina literatue and numerous inscriptions from the stūpa site also give an indication about the erection of a new Jaina stūpa during the Kuṣāṇa period.[6] The purpose of erecting new stupa was to establish Jaina claim on the site which had been challenged by the Buddhists for the simple reason that the old Jaina stūpa which was intact at that time had no images to show its Jaina affiliation. This exigency of Jaina statuary was completely removed in the new stūpa of the Kuṣāṇa age.

*. Department of AIHC & Archaeology, Banaras Hindu University, Varanasi-221 005.

The stone railing *(vedikā)* of the early stūpa surrounding the ground ambulatory with four gateways, consists of upright posts *(stambha)*, three cross-bars) (sūcī) between each pair of posts and copings *(uṣṇīṣa)*. The different members of the railing are bounded together by the tenon-and-socket method, a device adopted from the woodcraft. The posts are fixed to the gound by inserting their lower part in the socket of stone lasement, their visible part has been made octagonal by bevelling the corners, and their top has been treated as a tenon fitted into the socket made on the underside flat surface of the coping stones. The three cross-bars resemble the flat pillows and are separated from one another by very narrow spaces. The two ends of the cross-bars are inserted into the lenticular sockets made on the narrower lateral sides of the posts. The coping stones are square and flat below and round above. The underside of the coping stones have sockets at regular intervals for receiving the tops of the posts.

The railing of the early stūpa bears profuse carvings in low relief. The upright posts, at the outer and inner surfaces, show three lotus medallions in the middle and one half each below and above. The cross-bars also carry lotus medallions on both the faces. All those medallions depict several varieties of lotus flowers and other decorative designs. The most instructive of these is a fish-tailed fabulous animal the body of which is a fish and the head is made up of an animal. The fish-tailed animals are elephant, crocodile, winged lion, wolf, eagle, etc. Another decoration worth noticing is of winged animals comprising lion, antelope, wolf, goat and crocodile. A good number of medallions show auspicious symbols like stūpa, *śrīvastsa*, tree in railing *(caityavṛkṣa)*, wishfulfilling creeper *(kalpa-latā)*, *nandipada*, *cakra*, winged conch-sell *(śaṅkha)* and begging bowl placed on a raised pedestal, living animals such as wolf, deer, bull, elephant, lion and goat, bird, mythical animals having head of a boar or human being and body of a lion and reversely the head of a lion and the body of a bird, and such decorative designs as honey-suckle, flower bouquet, etc. But

above all these decorations are several varieties of six, eight, ten, twelve and sisteeen-petalled (in rare cases in odd numbers) lotus flowers represented in one or two rows with a central pistil. In some cases the lotus in stylised; in some other cases the inner row of petals is differently treated. The coping stones bear a number of floral and animal decorations. At one place the coping stone shows bells and buds tied to a beaded band above and honey-suckle with tiger and boary (or some other animals like rhinoceros, goat, bull, deer etc.) below. At another place fine lotus rhizome appears below and usual bells and buds above. Since the railing is fully enriched with lotus medallions and creepers it has been rightly called *padmavaravedikā*, a term used for this type of railing in the Jaina canonical text Rāyapaseṇiyasutta.[7]

Of the *toraṇa*-gateway of the early stūpa some pillars and a lintel alone have survived. The pillars have an octagonal plain shaft; their capital consists of an inverted carved pitcher and winged lions. The lintel is carved with a scene of stupa worship. In the central part of the scene is a three-tiered hemispherical stūpa worked out in decreasing diameter towards the elongated top. Each tier is ornamented with a railing design which has the usual members of posts, crossbars and copings. The semi-circular *aṇḍa* has a harmikā on its top. The *harmikā* is enclosed by a square railing and is shaded by a parasol with streamers hanging form it. The stūpa is being worshipped by two *suparṇas* (men-headed bird) and four *kinnaras* (man-headed horse). Behind the scene are shown stylised trees.

Structurally, the railing of the Jaina stūpa of the Kuṣāṇa age is very similar to the one just described but in shape and ornamentation of its uprights is shows a marked change and advancement. Here the upright posts are square in section and have three sections on the front side. The prominent middle section is occupied by a boldly relieved male or female figure, the lower section has a crouching dwarf figure, and the upper section carries a projecting terrace, often with human couples peeping out from it. The figures of the middle section include

Yakṣas and *Yakṣiṇīs*, heavenly girls, *Śālabhañjikās*, women busy in their pastimes, donors and worshippers with folded hands, and divine figures. All these figures, particularly the female figures, have been wrought with utmost care, stand in handsome poses, are beautifully ornamented, and look perfect on aesthetic plane. Except for the loin girdle the female figures are nude, probably to emphasize their femininity.

It is hard to give a true picture of the *toraṇa* of the later stūpa as it is not intact today. However, the stone tablet of Loṇasobhikā has an illustration of a stūpa of the contemporary period.[8] This elongated stūpa has four railings and a *toraṇa* with rich carvings. The relief carving of toraṇa shows here two pillars and three architraves with bracket figures of *śālabhañjikās*. The three architraves are separated from one another by square blocks of carved stones put up in alignment with the pillars. Between the architraves are inserted small ornate balusters. The uppermost architrave carries *cakra* on honey-suckle in the middle and *triratna* on each side, symbolising right perception *(samyak-darśana)*, right knowledge *(samyak-jñāna)* and right conduct *(samyak-cāritra)* the three noble paths of Jinism. A heavy wreath hangs from the lowest architrave of the gateway. A dancing-girl with rich jewellery and nude posture, except for a sash round the hips, stands in *tribhaṅga* posture (three-flexured bodily posture) on the railing on each side of the gateway. A similar gateway may be seen in the stone tablet of Śivayaśā,[9] but here the ends of the three architraves are incurved like the tail of crocodile.

References :

1. *Vividhatīrthakalpa* of Jinaprabhasūri, ed. by Jinavijaya, Calcutta, 1934, pp. 17-18.
2. *Epigraphia Indica*, Vol. II, p. 20.
3. *Indian Art*, Varanasi, 1965, p. 231.
4. Smith. V.A., *The Jain Stupa and other Antiquities of Mathura.* Rreprint, Varanasi, 1969, pls. LII-LVIII.

5. *Ibid.*, pls. LX-LXIV; see also Agrawala, P.K. *Mathura Railing Pillars*, Varanasi, 1966.
6. Agrawala, V.S., *Indian Art*, p. 231.
7. *Ibid.*, p. 221.
8. *Ibid.*, p. 229, fig. 130.
9. Smith, *op. cit. pl.XII.*

●

मथुरा की मध्ययुगीन जिन मूर्तियाँ

डॉ. मारुति नन्दन तिवारी*

उत्तर प्रदेश ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारतवर्ष में मथुरा जैनकला का प्राचीनतम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थल रहा है। साहित्यिक और अभिलिखित साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि मथुरा का कंकाली टीला एक प्राचीन जैनस्तूप था,[1] जहाँ से विशाल जैन स्तूप के अवशेष एवं विपुल संख्या में मूर्तियाँ मिली हैं।[2] ये मूर्तियाँ ल. 150 ई.पू. से 1077 ई. के मध्य की हैं। मथुरा की जैन-मूर्तियों का वैशिष्ट्य यह है कि उनमें आरम्भ से मध्ययुग तक के जैनप्रतिमाविज्ञान की विकासशृङ्खला को बखूबी देखा जा सकता है। इनमें आयागपट, स्वतन्त्र जिन मूर्तियाँ एवं प्रतिमासर्वतो-भद्रिका या चौमुखी जिन मूर्तियाँ, जिनों के जीवन दृश्य (महावीर एवं ऋषभदेव से सम्बन्धित)[3] तथा सरस्वती एवं नैगेमेषी की मूर्तियाँ मुख्य हैं।

आयागपट मथुरा की प्राचीनतम जैन शिल्प सामग्री है, जिसका निर्माण शुंग-कुषाणकाल में और वह भी केवल मथुरा में ही हुआ। आयागपट वर्गाकार प्रस्तरपट्ट हैं, जिन्हें लेखों में आयागपट और पूजाशिलापट कहा गया है। आयागपट जिनों (अर्हतों) के पूजन के लिए स्थापित किये जाते थे।[4] मथुरा में ही कुषाण-काल में जिन मूर्तियों में वक्षःस्थल में श्रीवत्स चिह्न का अंकन प्रारम्भ हुआ। जिन मूर्तियों की दोनों विशिष्ट मुद्राएँ– ध्यानमुद्रा एवं कायोत्सर्ग भी मथुरा की कुषाणकालीन मूर्तियों में द्रष्टव्य हैं।[5] इनमें आठ प्रातिहार्यो[6] में से केवल 6 प्रातिहार्य, सिंहासन, प्रभामण्डल, चैत्यवृक्ष, चामरधरसेवक, उड्डीयमान मालाधर एवं छत्र (त्रिछत्र नहीं) उत्कीर्ण हैं।

कुषाणकाल की तुलना में गुप्तकाल में मथुरा में कम जैन मूर्तियाँ बनीं। यह दूसरी बात है कि गुप्तकाल में जैन मूर्तियों के प्राप्ति-स्थल

---

*. रीडर, कला इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

का क्षेत्र विस्तृत हो गया। ये मूर्तियाँ मथुरा एवं चौसा के अतिरिक्त राजगिर, विदिशा (दुर्जनपुर), हृदयगिरि, कहोम, वाराणसी और अकोटा (श्वेताम्बर) से मिली हैं। गुप्तकाल में मथुरा में पार्श्वनाथ की अपेक्षा ऋषभनाथ की अधिक मूर्तियाँ उत्कीर्ण हुई। बलराम-कृष्ण की आकृतियों से वेष्टित नेमिनाथ की भी कुछ मूर्तियाँ मिली हैं। गुप्तकाल में उत्तर प्रदेश (वाराणसी) एवं बिहार (राजगिर) में जिनों के साथ पीठिका पर लांछनों तथा गुजरात (अकोटा) की श्वेताम्बर मूर्तियों में शासन-देवताओं के निरूपण की परम्परा प्रारम्भ हुई। इसी समय **बृहत्संहिता** (वराहमिहिरकृत– छठी शती ई.) में सर्वप्रथम स्पष्टतः तीर्थङ्कर मूर्ति का लाक्षणिक विशेषताओं का निरूपण हुआ।[7] लगभग आठवीं-नवीं शती ई. तक मथुरा की जिन मूर्तियों में पारम्परिक लांछनों यक्ष-यक्षी युगलों और अष्ट प्रातिहार्यों का नियमित अंकन मिलने लगता है।

प्रस्तुत लेख में मध्यकाल यानी सातवीं से 11वीं शती ई. के बीच की मथुरा से प्राप्त जिन मूर्तियों का अध्ययन अभीष्ट है। यद्यपि इस कालावधि में मथुरा से मुख्यतः दिगम्बर परम्परा की ही मूर्तियाँ मिली हैं, तथापि मथुरा और आगरा के समीप बटेश्वर से प्राप्त क्रमशः नेमिनाथ और मुनिसुव्रत की मूर्तियाँ श्वेताम्बर-परम्परा से सम्बद्ध है। विक्रमसंवत् 1038 (981 ई.) एवं 1134 (1077 ई.) की दो ध्यानस्थ जिनमूर्तियों में पीठिका लेखों में भी मथुरा के श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा उनकी प्रतिष्ठा का सन्दर्भ मिलता है।[8] बटेश्वर के प्राप्त मुनिसुव्रत की 1006 ई. की श्वेताम्बर मूर्ति में जीवन्तस्वामी की दो आकृतियों की उपस्थिति विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि जीवन्तस्वामी मूर्ति की परम्परा केवल श्वेताम्बर शास्त्रों, लेखों एवं मूर्तियों में ही द्रष्टव्य है। मध्यकाल में मथुरा के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश एवं भारत के अन्य अनेक क्षेत्रों में जैन मूर्तियों एवं मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिनमें देवगढ़, एलोरा, खजुराहो, श्रवणबेलगोल विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

मध्यकाल में मथुरा में जैनमूर्तियों के निर्माण की पूर्व-परम्परा का क्रम चलता रहा, और स्वतन्त्र जिन मूर्तियों एवं जिन चौमुखी (या प्रतिमा सर्वतोभद्रिका) मूर्तियों के साथ ही यक्षियों की भी पर्याप्त मूर्तियाँ बनीं। यक्षियों की मूर्तियों में पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा (क्रमांक डी 6) की

10वीं शती ई. की दशभुजा चक्रेश्वरी की स्थानक मूर्ति विशेषतः उल्लेखनीय है। गरुडवाहना यक्षी के नौ सुरक्षित करों में चक्र द्रष्टव्य है। इसी प्रकार जैन यक्षी अम्बिका की (मथुरा संग्रहालय डी7) नवीं शती ई. की एक द्विभुजी ललितासीन मूर्ति में सिंहवाहन एवं पुत्र के अतिरिक्त बलराम और कृष्ण की चतुर्भुज आकृतियों से वेष्टित नेमिनाथ की आकृति भी शीर्षभाग में देखी जा सकती है। इस मूर्ति में गणेश और कुबेर का अंकन भी महत्त्वपूर्ण है।

मथुरा से ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ की ही सर्वाधिक मूर्तियाँ मिली हैं, जिसका स्पष्ट कारण जैन कला में इनका सबसे पहले शिल्पांकन रहा है। इनके अतिरिक्त नेमिनाथ और महावीर की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं। सभी उदाहरणों में जिन आकृतियाँ पारम्परिक मुद्राओं (ध्यान एवं कायोत्सर्ग) में निरूपित हैं और उनके साथ अष्टप्रातिहार्यों एवं पीठिका छोरों पर यक्ष-यक्षी का अंकन हुआ है। केवल पार्श्वनाथ की मूर्तियों में पीठिका छोरों के स्थान पर सामान्यतः दोनों पार्श्वों में छत्रधारिणी पद्मावती एवं नमस्कार-मुद्रा में धरणेन्द्र को रूपायित किया गया है। धरणेन्द्र की उपस्थिति कभी-कभी मानवाकार आकृति के स्थान पर पार्श्वनाथ के सिर के ऊपर प्रदर्शित सप्तसर्पफणों के छत्र के रूप में भी द्रष्टव्य है।

ऋषभनाथ की मूर्तियों में कन्धों पर केशवल्लरियों का अंकन पूर्ववत् द्रष्टव्य है और उनके साथ यक्ष-यक्षी के रूप में गोमुख और चक्रेश्वरी रूपायित हैं। कभी-कभी सर्वानुभूति या कुबेर यक्ष की आकृति भी दिखाई गई है, जिनके एक हाथ में धन का थैला प्रदर्शित है। कंकाली टीले से प्राप्त लगभग 8वीं शती ई. की एक ध्यानस्थ मूर्ति (राज्य संग्रहालय, लखनऊ जे78) में वृषभ लांछन (दो आकृतियाँ) एवं जटाओं से शोभित ऋषभनाथ के साथ यक्ष-यक्षी कुबेर और अम्बिका हैं जो मूलतः नेमिनाथ के यक्ष-यक्षी हैं (चित्र 1)। यक्ष-यक्षी की आकृतियों के ऊपर सात सर्पफणों के छत्र से शोभित बलराम और किरीटमुकुट से शोभित कृष्ण की स्थानक आकृतियाँ भी उत्कीर्ण हैं जो नेमिनाथ से सम्बद्ध हैं। जिन मूर्तियों में लांछन की दो आकृतियों का उत्कीर्णन गुप्तकाल में प्रारम्भ हुआ जिसके उदाहरण मुख्यतः मथुरा, वाराणसी एवं राजगिर से ही मिले हैं। द्विभुज

यक्ष स्पष्टतः कुबेर यक्ष हैं, जिसका दाहिना हाथ अभयमुद्रा में है और बायें में धन का थैला है। वामपार्श्व की द्विभुजा अम्बिका के दाहिने हाथ में आम्रलुम्बि एवं बायें में बालक हैं। सिंहवाहना यक्षी के शीर्षभाग में आम्रफल के गूच्छे देखे जा सकते हैं। बलराम के तीन हाथों में चषक, मूसल एवं हल प्रदर्शित हैं जबकि चौथा हाथ जानु पर स्थित है। कृष्ण अभयमुद्रा, ध्वजयुक्त गदा, चक्र एवं शंख से युक्त हैं। ज्ञातव्य है कि सर्वानुभूति यक्ष, अम्बिका यक्षी एवं बलराम-कृष्ण नेमिनाथ से सम्बन्धित हैं। स्पष्टतः ऋषभनाथ के साथ बलराम और कृष्ण का निरूपण परम्परासम्मत नहीं है। सम्भव है राजगिर की सोनभण्डार एवं वैभार पहाड़ियों[9] की छठी से 11वीं शती ई. की जिन मूर्तियों के समान ही प्रस्तुत मूर्ति में भी दो जिनों को संयुक्त रूप में दिखाने का प्रयास किया गया हो। राजगिर से प्राप्त उदाहरणों में सुपार्श्व और पार्श्वनाथ के साथ नेमिनाथ, अजितनाथ और महावीर का अंकन हुआ है। मथुरा की प्रस्तुत संघाट मूर्ति में ऋषभनाथ और नेमिनाथ को संयुक्त रूप में प्रस्तुत करना अभीष्ट जान पड़ता है।[10]

पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा में 8वीं से 11वीं शती ई. के मध्य की ऋषभनाथ की चार मूर्तियाँ हैं। सभी में वृषभ लांछन और जटाएँ प्रदर्शित हैं, पर यक्ष-यक्षी केवल दो ही उदाहरणों में उत्कीर्ण हैं। एक मूर्ति (क्रमांक बी21, 10वीं ई.) में यक्षी चक्रेश्वरी है। सिंहासन के नीचे एक पंक्ति में कायोत्सर्ग-मुद्रा में सात 'जिन' आकृतियाँ भी उत्कीर्ण हैं। परिकर में भी आठ लघु 'जिन' आकृतियाँ सुरक्षित हैं। 11वीं शती ई. की एक मूर्ति (क्रमांक 16.1207) में द्विभुज यक्ष-यक्षी गोमुख-चक्रेश्वरी के स्थान पर सर्वानुभूति एवं अम्बिका हैं। परम्परा विरुद्ध यक्ष बायीं ओर और यक्षी दाहिनी ओर निरूपित हैं। मूलनायक के पार्श्वों में केतु को छोड़कर आठ ग्रहों की मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण हैं।[11]

मथुरा की मध्यकालीन नेमिनाथ की मूर्तियों में शंख लांछन के साथ ही उनके सर्वानुभूति यक्ष एवं अम्बिका यक्षी का भी निरूपण हुआ है। राज्य संग्रहालय, लखनऊ (क्रमांक 66.53) की श्वेताम्बर मूर्ति के अतिरिक्त अन्य सभी उदाहरणों में नेमिनाथ निर्वस्त्र यानी दिगम्बर-परम्परा में हैं। शास्त्रीय एवं मथुरा की कुषाण-गुप्तकालीन मूर्ति परम्परा के अनुरूप

11वीं शती ई. की उपर्युक्त श्वेताम्बर मूर्ति में कायोत्सर्ग में खड़े नेमिनाथ के परिकर के अवशिष्ट भाग में तीन लघु 'जिन' आकृतियाँ भी द्रष्टव्य हैं (चित्र 2)। नेमिनाथ के कंधों के समीप चतुर्भुज बलराम और कृष्ण की त्रिभंग आकृतियाँ उकेरी हैं। तीन सर्पफणों के छत्र और वनमाला से शोभित बलराम के तीन अवशिष्ट करों में से दो में मुसल और हल हैं जबकि तीसरा कटि हस्त है। किरीटमुकुट एवं वनमाला से शोभित कृष्ण के करों में अभयमुद्रा, गदा, चक्र और शंख प्रदर्शित हैं।[12] पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा (क्रमांक 37.2738) में सुरक्षित 10वीं शती ई. की ध्यानमुद्रा में विराजमान नेमिनाथ की मूर्ति भी उल्लेखनीय है। इस मूर्ति में ध्यानमुद्रा में विराजमान नेमिनाथ के साथ शंख लांछन और यक्ष-यक्षी नहीं उत्कीर्ण हैं, किन्तु पार्श्ववर्ती बलराम और कृष्ण की आकृतियों के आधार पर नेमिनाथ से पहचान स्पष्ट है। वनमाला से शोभित चतुर्भुज बलराम त्रिभंग में हैं और उनके तीन हाथों में चषक, मुसल और हल हैं। चौथा हाथ जानु पर स्थित है। वनमाला से युक्त कृष्ण समभंग में खड़े हैं। कृष्ण के तीन सुरक्षित करों में से दो में वरदमुद्रा और गदा प्रदर्शित हैं जबकि तीसरा जानु पर स्थित है।[13] मथुरा से बाहर केवल दो अन्य उदाहरणों में ही नेमिनाथ की मूर्तियों में बलराम और कृष्ण का रूपायन हुआ है। ल. 10वीं-11वीं शती ई. की ये मूर्तियाँ बटेश्वर राज्य संग्रहालय, लखनऊ क्रमांक 793) तथा देवगढ़ (मन्दिर 2) से मिली हैं।

मथुरा के पास कगरौल से प्राप्त 1034 ई. की पार्श्वनाथ की एक ध्यानस्थ मूर्ति पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा में सुरक्षित है (क्रमांक 2874)। ध्यानस्थ मूर्ति में सिंहासन छोरों पर सर्पफणों के छत्र वाले धरणेन्द्र-पद्मावती के स्थान पर सामान्य लक्षणों वाले द्विभुज यक्ष-यक्षी आमूर्तित हैं। पार्श्वनाथ की अधिकांश मूर्तियों (विशेषतः कमठ या मेघमाली के उपसर्गों को दर्शाने वाली) में जिन कार्योत्सर्ग में रूपायित हैं।

महावीर की मूर्तियाँ अधिकांशतः ध्यानमुद्रा में बनीं। मथुरा से प्राप्त सभी उदाहरणों में सिंह लांछन तो उत्कीर्ण है; किन्तु यक्ष-यक्षी केवल एक ही उदाहरण (राज्य संग्रहालय, लखनऊ जे. 808) में द्रष्टव्य हैं। 10वीं शती ई. की कायोत्सर्ग मूर्ति में द्विभुज यक्ष-यक्षी सामान्य लक्षणों

वाले हैं। 1077 ई. की एक ध्यानस्थ मूर्ति (राज्य संग्रहालय, लखनऊ, क्रमांक जे. 830) में लांछन के साथ ही पीठिका लेख में भी 'वीरनाथ' उत्कीर्ण है। इस मूर्ति के परिकर में चार अन्य 'जिन' आकृतियाँ भी बनी हैं और इस प्रकार पंचतीर्थी जिन मूर्ति का उदाहरण प्रतीत होता है।

मध्यकाल में अन्यत्र, विशेषतः श्वेताम्बर स्थलों पर जिनों के पञ्चकल्याणकों एवं अन्य जीवन दृश्यों का शिल्पांकन लोकप्रिय था (कुम्भारिया, दिलवाड़ा)। किन्तु मथुरा में जीवनदृश्यों का अंकन नहीं मिलता है, जो कुषाणकाल में जिनों के जीवनदृश्यों के शिल्पांकन की पृष्ठभूमि में सर्वथा आश्चर्यजनक है।

स्वतन्त्र जिनमूर्तियों के अतिरिक्त जिनचौमुखी के उदाहरण भी प्राप्त हुए हैं। जिनचौमुखी के अंकन में दोनों वर्गों के उदाहरण मिले हैं। पहले वर्ग में समवसरण की मूल अवधारणा के अनुरूप एक ही जिन की चार आकृतियों को चार दिशाओं में दिखाया गया है। कंकालीटीला (मथुरा) से प्राप्त इस वर्ग का एक उदाहरण राज्य संग्रहालय लखनऊ (जे. 236) में सुरक्षित है। संवत् 1080 (1023 ई.) की इस चौमुखी मूर्ति में ध्यानमुद्रा में चार जिन मूर्तियाँ उकेरी हैं। यद्यपि जिनों के साथ लांछन नहीं दिखाया गया है तथापि पीठिकालेख में इसे वर्धमान (महावीर) का चतुर्बिम्ब (वर्धमानश्चतुर्बिम्बः) कहा गया है। मूर्ति का शीर्ष भाग मन्दिर के शिखर के रूप में निर्मित है। प्रत्येक दिशा की जिन आकृति के साथ सिंहासन, धर्मचक्र, त्रिछत्र एवं वृक्ष की पत्तियाँ द्रष्टव्य हैं। उल्लेखनीय है कि इस वर्ग की चौमुखी मूर्तियाँ बहुत कम प्राप्त हुई हैं, जिसका एक उदाहरण जाघीना (भरतपुर) से प्राप्त मूर्ति है जो वर्तमान में भरतपुर राज्यसंग्रहालय (क्रमांक 3) में सुरक्षित है। इस उदाहरण में चारों दिशाओं में ऋषभनाथ की चार मूर्तियाँ उकेरी हैं, अर्थात् यह ऋषभनाथ की चौमुखी है।

दूसरे वर्ग की चौमुखी मूर्तियाँ सर्वप्रथम कुषाणकाल में मथुरा में बनीं, जिन्हें मूर्ति लेखों में प्रतिमासर्वतोभद्रिका या 'सर्वतोभद्रप्रतिमा' कहा गया है। इनमें चार दिशाओं में चार अलग-अलग तीर्थङ्करों का अंकन अभीष्ट था। चार में से केवल दो जिनों– ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ की ही पहचान क्रमशः लटकती हुई जटाओं तथा सात सर्पफणों के आधार

पर सम्भव है। मथुरा की यह परम्परा ही बाद में अखिल भारतीय चौमुखी जिन मूर्ति परम्परा का आधार बनी और सभी जिनों के लांछनों के निर्धारण के बाद भी दो जिनों को बिना लांछन के दर्शाया गया। ऋषभनाथ और पार्श्वनाथ के साथ भी केवल लटकती हुई जटा एवं सात सर्पफणों को ही दिखाया गया है। जिन आकृतियों की स्थिति के आधार पर यह सम्भावना प्रतिपादित की जा सकती है कि इनमें ऋषभनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर का अंकन अभीष्ट था। इस वर्ग की लगभग आठवीं शती ई. की एक मूर्ति पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा (बी 65) में है। चारों जिन ध्यानमुद्रा में विराजमान हैं। लटकती जटाओं, सप्तसर्पफणों की छत्रावली एवं सर्वानुभूति- अम्बिका की आकृतियों के आधार पर तीन जिनों की पहचान क्रमशः ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ एवं नेमिनाथ से सम्भव है।[14] इस वर्ग की सर्वाधिक चौमुखी मूर्तियाँ (10वीं 12वीं शती ई.) देवगढ़ में हैं।[15]

पाद-टिप्पणी

1. **विविधतीर्थकल्प**, पृष्ठ 17-19, वी.ए. स्मिथ, **दि जैनस्तूप ऐण्ड अदर एण्टिक्वीटीज ऑव मथुरा**, वाराणसी, 1969 (पु.मु.), पृष्ठ 12-13.
2. ए. कनिंघम, **आर्कियलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया-रिपोर्ट**, 1871-72, खं.3, वाराणसी 1966 (पु.मु.), पृष्ठ 45-46.
3. राज्य संग्रहालय, लखनऊ जे.626 एवं जे. 354.
4. **एपिग्राफिया इण्डिका**, खण्ड 2, पृष्ठ 314.
5. चौसा एवं प्रिंस ऑव वेल्स संग्रहालय, बम्बई की दो निर्वस्त्र और पाँच सर्पफणों वाली पार्श्वनाथ की प्रारम्भिक धातु मूर्तियों में भी जिन कायोत्सर्गमुद्रा में निरूपित हैं। पूर्व में इन मूर्तियों को पहली शती ई.पू. में तिथ्यांकित किया गया था, किन्तु वर्तमान में अधिकांश विद्वान् इसकी तिथि पहली शती ई. मानते हैं।
6. अष्टप्रातिहार्य इस प्रकार हैं- अशोकवृक्ष, देवदुन्दुभि, सुरपुष्पवृष्टि, त्रिछत्र, चामर, सिंहासन, दिव्यध्वनि, प्रभामण्डल।

   पउमचरिय 2.35-36, **हरिवंशपुराण**, 3.31-38.
7. आजानुलम्बबाहुः श्रीवत्साङ्कः प्रशान्तमूर्तिश्च।

   दिग्वासास्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः।। **बृहत्संहिता** 58.45.

8. वी.ए. स्मिथ, **पूर्वनिर्दिष्ट**, पृ. 53, फलक 95-96.
9. मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी, "पाल जिन इमेजेज फ्राम राजगिर", **अजय श्री- प्रो. अजय मित्र शास्त्री फेलिसिटेशन वाल्यूम** (सं.- देवेन्द्र हॉडा), नई दिल्ली, 1989, पृष्ठ 467-71.
10. मारुति नन्दन प्रसाद तिवारी, **जैनप्रतिमाविज्ञान**, वाराणसी 1981, पृ. 88.
11. **वहीं**, पृष्ठ 89.
12. **वही**, पृष्ठ 119.
13. **वही**, पृष्ठ 120.
14. **वही**, पृष्ठ 151.
15. देवगढ़ में 25 से अधिक मूर्तियाँ हैं। अधिकांश मूर्तियाँ मन्दिर 12 की चहारदीवारी पर हैं।

●

मथुरा के जैन शिलालेख

स्व. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन*

राजनैतिक ही नहीं, धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से भी मथुरा पुरातत्त्व में उस स्थान से प्राप्त शिलालेख सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन शिलालेखों के महत्त्व को लूडर्स, ब्रूलर, फ्लीट, कनिङ्घम, भण्डारकर, रैप्सन, स्मिथ, फूहरर, स्टेन कोनो आदि अनेक प्रकाण्ड प्राच्यविदों ने मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। शक क्षत्रपों एवं कुषाण नरेशों का पूर्वापर, उनकी वंशावलियों तथा कालानुक्रमणिकाओं को निश्चित करने का मथुरा के शिलालेखों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है। शक संवत् की प्रथम शताब्दी के लिए जैसी तिथियुक्त अभिलेखों की शृङ्खला यहाँ प्राप्त हुई है वैसी उस तथा अन्य किसी युग के लिये अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है। राजाओं के नाम, उनकी उपाधियाँ, कालक्रम, शिलालेखन की प्रणाली, भाषा, लिपि, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक लोक-दशा आदि के अध्ययन के लिये ये शिलालेख अद्वितीय साधन सिद्ध हुए हैं। यद्यपि मथुरा नगर एवं प्रदेश से तथा दो-तीन शताब्दियों से ही उनका विशेष तथा अधिक सम्बन्ध है, तथापि उक्त प्रदेश एवं युग के द्वार से ही वे सामान्यतया प्राचीन भारतीय इतिहास के उपरोक्त विभिन्न अंगों के लिये दीपस्तम्भ का कार्य करते हैं। जैन, बौद्ध एवं ब्राह्मण (शैव, वैष्णवादि)- तीनों प्रमुख भारतीय धर्मों की उस काल में उत्तर भारत में कैसी स्थिति थी, किन-किन दिशाओं में उनका विकास हो रहा था, लोक-जीवन में उनमें से प्रत्येक का कितना क्या योग अथवा प्रभाव था और उनके तीनों के पारस्परिक सम्बन्ध कैसे थे, इत्यादि तथ्यों पर अभूतपूर्व प्रकाश पड़ता है और जैनधर्म एवं जैनसंघ के इतिहास की तो एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी इन अभिलेखों में प्राप्त होती है।

---

*. जैन सन्देश : शोधांक-21, भाग 29, सं. 7, दिनांक 2. मई 1965 के अंक से साभार, प्रकाशक- श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा.

मथुरा नगर के विभिन्न स्थानों एवं उसके आस-पास के प्रदेश से अब तक प्राप्त हुए शिलालेखों की संख्या अढ़ाई सौ से ऊपर है। इनमें से अधिकांश एपीग्राफिया इण्डिका तथा अन्य विभिन्न शोध-पत्रिकाओं एवं सन्दर्भ ग्रन्थों में प्रकाशित हो चुके हैं। अनेकों का मात्र विवरण सूचित किया गया है, सम्पादित पाठ नहीं प्रकाशित हुआ है। किसी एक ही स्थान (ग्रन्थ) में ये शिलालेख अभी तक प्राप्त नहीं हैं।

प्राप्त शिलालेखों में से 8 का सम्बन्ध हिन्दूधर्म के साथ किया जा सकता है जिनमें से 1 यज्ञयूप से, 1 पंचवृष्णिवीर पूजा से, 1 माहेश्वर सम्प्रदाय से, 1 शैवों से और 4 वैष्णवों से सम्बन्धित है। दो शिलालेख नागपूजा से और एक यक्षपूजा से सम्बन्धित है। लगभग 30 अभिलेख ऐसे संक्षिप्त, त्रुटित एवं खण्डित हैं कि उनका सम्बन्ध किसी भी धर्म विशेष के साथ निश्चित करना कठिन है। इन्हीं में पाँच-छः तो राजकीय प्रतीत होते हैं जो कुषाण राजाओं आदि की मूर्तियों आदि पर पाये गये हैं, कुछ लोकोपकार्थ कूए बावड़ी, धर्मशाला आदि बनवाने से सम्बन्धित है; किन्तु यह कार्य धर्मनिरपेक्ष रूप में किये गये प्रतीत होते हैं। 63 शिलालेख बौद्धधर्म से सम्बन्धित है और 153 जैनधर्म से सम्बन्धित हैं।

इन अभिलेखों की सबसे अधिक संख्या एकत्र केवल लूडर्स की 'ब्राह्मी शिलालेखों की सूची' (एपी.इण्डि., भाग 10) में उपलब्ध होती है। उस सूची में उपरोक्त डेढ़ सौ से अधिक जैन शिलालेखों में से केवल 80 के लगभग प्राप्त होते हैं। माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित जैन शिलालेख संग्रह, भाग 2 में, सम्भवतया इसी सूची के आधार से मथुरा के 85 लेखों को प्रकाशित किया गया है और उसी संग्रह के भाग 3 की भूमिका में डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी ने मथुरा के इन जैन शिलालेखों पर भी विवेचन प्रस्तुत किया है और उनमें उल्लिखित गण, शाखा, कुल आदि तथा कतिपय साधुओं के सम्बन्ध में ऊहापोह किया है।

उपरोक्त लगभग डेढ़ सौ जैन शिलालेखों में तीन या चार कुछ सन्दिग्ध कोटि के हैं, शेष निश्चिततया जैन हैं, उनमें भी 85 अभिलेख तिथियुक्त हैं। कालक्रम की दृष्टि से इनमें से 28 मौर्यकाल के अन्तिम दशकों से लेकर शककाल के प्रारम्भ से पूर्व (लगभग ईसापूर्व 225-50) तक के अनुमानित हैं, 23 शकक्षत्रप युग (लगभग ईसापूर्व 50- ईस्वी सन् 75)

तक के हैं, 90 के लगभग कुषाण शासनकाल (लगभग 75-300 ई.) के हैं, 2 गुप्तकाल (ल. 300-600 ई.) के, 8 पूर्वमध्यकाल (ल. 600-1200 ई.) के, और 1 मध्यकाल (1200-1800 ई.) का हैं।

इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि मथुरा और उसके आस-पास आगरा आदि में दर्जनों मध्यकालीन जैन मन्दिर हैं। उनमें तथा उनके उपरान्त बने मन्दिरों में भी मुस्लिम शासनकाल (1200-1800 ई.) की अनेक लेखाङ्कित जैन प्रतिमाएँ विद्यमान हैं। इन सब का पर्यवेक्षण करने से सम्भव है कि उनमें से कितनी ही मथुरा प्रदेश में ही प्रतिष्ठित हुई हों और कुछ पूर्वकाल की भी हो। तत्कालीन साहित्यिक आधारों से पता चलताहै कि 14वीं शती में जिनप्रभ सूरि ने मथुरा तीर्थ की यात्रा की थी (देखिए- विविध तीर्थ कल्प) उसी काल में ग्वालियर, बयाना, चन्दवाड़, हथकन्त आदि में जैनों की बस्तियाँ और केन्द्र विद्यमान थे। मुगल सम्राट् अकबर के समय में आगरा के टोडर साहू नामक एक राजमान्य जैन सेठ ने मथुरा जा कर उस स्थान के प्राचीन 500 जैन स्तूपों का जीर्णोद्धार और समारोहपूर्वक जिन प्रतिष्ठोत्सव कराया था (देखिए पाण्डे राजमल्लकृत सं. जम्बुचरित् तथा पाण्डे जिनदासकृत भाषा जम्बुस्वामि चरित्र)। इनसे विदित होता है कि मध्यकाल में मथुरा में जैनों की एक अच्छी बस्ती सम्भवतया निरन्तर बनी रही। कई तीर्थमालाओं से भी प्रगट है कि दूर-दूर से जैनीजन इस तीर्थ की वन्दना के लिए आते रहे। अतएव मथुरा प्रदेश के मन्दिरों में उस काल की प्रतिष्ठित जिन प्रतिमाएँ मिलने की पर्याप्त सम्भावना है। गुप्तकाल के उपरान्त भी लगभग चार शताब्दियों तक कोई जैन शिलालेख यहाँ नहीं मिला है; किन्तु साहित्यिक अनुश्रुतियों के अनुसार 8वीं-9वीं शती ई. में कान्यकुब्ज नरेश आमराज द्वारा उसके गुरु बप्पभट्टि सूरि ने मथुरा के प्राचीन स्तूप एवं मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया था (देखिए- बप्पभट्टि सूरिचरित्- प्रभावकचरित)। विद्वानों में इस विषय में तो मतभेद है कि यह आमराज सम्राट् यशोवर्मन का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था, अथवा कन्नौज का आयुधवंशी कोई राजा था, अथवा गुर्जर-प्रतिहार वत्सराज या उसका पुत्र नागावलोकनवभट द्वितीय था; किन्तु बप्पभट्टिसूरि के अस्तित्व एवं समयादि में कोई सन्देह नहीं किया जाता (देखिए- आर.एस. त्रिपाठीकृत हिस्ट्री ऑफ कन्नौज तथा बी.एन. पुरीकृत गुर्जर प्रतिहाराज)।

9वीं शती के अन्त या 10वीं शती के प्रारम्भ के लगभग मथुरा में मुनि रामसेन द्वारा दिगम्बर आम्नाय के माथुरगच्छ की स्थापना हुई और 10वीं-11वीं शती में ही मथुरा में सर्वप्रथम दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद लक्ष्य में आया और यहाँ दोनों सम्प्रदायों के मन्दिर और मूर्तियाँ पृथक्-पृथक् बनने लगी। इस काल के भी कुछ अन्य प्रतिमालेखादि मिलने की सम्भावना है।

जहाँ तक मथुरा के अधुना प्राप्त अभिलेखों का प्रश्न है, उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन मथुरा के (कम से कम ईसापूर्व 200 से सन् ई. 300 के मध्यवर्ती काल के) जैनीजन लेखन प्रवृत्ति एवं लेखन-कला में वहाँ सर्वाग्रणी थे। यही काल मथुरा के जैन-संघ का चरमोत्कर्ष काल था। समस्त प्राप्त शिलालेखों में दो तिहाई के लगभग जैन हैं और उनमें भी आधे के लगभग तिथियुक्त हैं, बौद्धादि अन्य सम्प्रदायों के यहाँ से प्राप्त शिलालेखों में उनके तिथियुक्त अभिलेखों का अनुपात भी इससे कम ही है।

प्राप्ति-स्थान की दृष्टि से लेखांकित जैन कृतियाँ अधिकांशतः कंकाली टीले से, जिसे जैन टीला भी कहते हैं, प्राप्त हुई हैं। उसके अतिरिक्त बलभद्रकुण्ड, माता का मठ (होली दरवाजा), जेलटीला, शीतलाघाटी, मुकुन्दकुंआ (होली दरवाजा) कटरा केशवदेव, चौरासी, चौबारा टीला, चौबियापाड़ा आदि मथुरा के कई अन्य विभिन्न स्थानों से भी प्राप्त हुई हैं। एक चतुर्मुखी जिन प्रतिमा चौमुहा (अकबरपुर) में मिली थी। मध्यकाल के एक अभिलेख में नवग्राम का तथा 18वीं शती के लेख में दीगनगर का नाम दिया है। कोसीकलाँ, सहपऊ आदि में भी अपेक्षाकृत पुराने जिन-मन्दिर एवं जैन बस्तियाँ हैं।

लेखांकित कृतियों में ऋषभदेव (प्रथम तीर्थङ्कर), सम्भवनाथ (3रे), सुमतिनाथ (5वें), सुपार्श्व (7वें), अनन्तनाथ (14वें), मुनिसुव्रत (20वें), नेमिनाथ (22वें), पार्श्वनाथ (23वें) और महावीर वर्द्धमान (24वें) तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ, अनेक ऐसी अर्हत् प्रतिमाएँ जिनमें नाम या लांछन नहीं सूचित हुआ, अनेक चरणचौकियाँ या पादपीठ (जिनप्रतिमाओं की), कई प्रतिमा सर्वतोभद्रिका (चतुर्मुखी), एक तीर्थङ्कर पट्ट (8 प्रतिमाओं से युक्त), एक शिलापट्ट जिसे 'वर्धमान पाटिया' लिखा है, कई आयागपट्ट, सरस्वती,

आर्यावती, नेगमेश, नागेन्द्रदधिकर्ण, आर्य क्ह्न्न-अर्द्धफालक (खण्डवस्त्रधारी) वेष में, नान्दिविशाल (गजस्तम्भ), वेदिका सूची, प्रासादतोरण, तोरणखण्ड, प्रस्तरखण्ड आदि हैं।

इन कृतियों पर अङ्कित कुछ लेखों में पुष्करणी, आराम, उद्यान, उद्पान, प्रपा, शिलापट्ट, आयागसभा, प्रासाद, देव या देवि-कुल, अर्हत्-चैत्य, अर्हतायतन या निर्ग्रन्थों का अर्हतायतन, विहार, देवनिर्मित वोद्व स्तूप, आदि के निर्माण करने या उनमें जिनमूर्तियाँ प्रतिष्ठित करने, अथवा उनके लिए दानादि देने के भी उल्लेख पाये जाते हैं; किन्तु सामान्यतः इन अभिलेखों में उनमें उल्लिखित धार्मिक कृतियों से निर्माण, प्रतिष्ठा, दानादि का मूल उद्देश्य प्रायः 'सर्वसत्त्वानं हितसुखाय' (सभी प्राणियों के कल्याण एवं सुख के लिये) सूचित किया गया है। अनेकों में केवल 'अर्हत पूजाय' या 'आर्हत चैत्यपूजाय' लिखा है। एक अभिलेख में 'चातुरवर्णसंघ' के लिए यह धार्मिक कृत्य किया गया बताया है। जैन-परम्परा में मुनि, आर्यिका, श्रावक-श्राविका के समाज या संगठनको चतुर्विध संघ कहते हैं, सम्भव है इस कथन का संकेत उसी चतुर्विध संघ से हो। यह भी सम्भव है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र– चारों ही वर्णों के जिनधर्म भक्तों की ओर सामूहिक रूप से लेख का संकेत हो। इन लेखों से यह तो स्पष्ट ही है कि तत्कालीन मथुरा में सभी वर्णों और जातियों के स्त्री-पुरुष समानरूप से जैनधर्म के अनुयायी थे, यहाँ तक कि विदेशी-यूनानी, शक पह्लव, कुषाण आदि जातियों के भी अनेक व्यक्ति जैन थे। कुछ लेखों में 'बोधिलाभाय', 'धर्मोमहाभोगताय' जैसे पद भी उद्देश्य सूचनार्थ पाये जाते हैं; किन्तु जैसाकि अधिकांश लेखों से सूचित होताहै मथुरा के उन धर्मात्मा जैनों की भावना तो मूलतः 'सर्व सत्त्वानं हितसुखाय' ही थी, जीवमात्र का हित और सुख सम्पादन करने की उनकी भावना सक्रिय एवं सचेष्ट थी जिसके द्वारा उन्होंने स्वधर्म को सच्चे अर्थों में सार्व धर्म बनाने का सद्प्रयत्न किया था।

शिलालेखों के प्रारम्भ में कतिपय 'मंगल' पद प्राप्त होते है, यथा– 'सिद्धम्', 'नमो अरहंतान', 'नमो अरहंतानाम् नमो सिद्धानं', 'सिद्धं नमोस्त्वर्हद्भ्यः', 'नमो अरहंतानं सर्व्वलोकुत्तमानं', 'नमो अर्हतो वर्धमानस', 'नमो अर्हतो महावीरस', 'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं' जैनों के सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण एवं परमपवित्र णवकार या पंचनमस्कार मन्त्र के प्रथम दो चरण हैं, उसके शेष तीन चरण– 'णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं' हैं। उक्त मन्त्र के उपरान्त उसके माहात्म्य रूप में पढ़े जाने वाले पाठ 'अरहंत मंगलम्' आदि के द्वितीय अंशका प्रथम चरण है 'अरहंत लोगुत्तमा'। जैन विश्वास के अनुसार 'णवकारमन्त्र' मूलमन्त्र है, अनादिनिधन है, किन्तु लिखित साहित्य में यह मन्त्र सर्वप्रथम पहली शती ई. के मध्य के लगभग संकलित एवं लिपिबद्ध दिगम्बर आम्नाय ने आगमग्रन्थ 'षट्खण्डागम' के मंगलाचरण के रूप में उपलब्धहोता है। मथुरा के ये शिलालेख उसकी प्राचीनता को इसके भी लगभग सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व तक पहुँचा देते हैं। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख (लगभग 150 ई.पू.) में भी मंगलाचरण के रूप में 'नमो अरहंतानं नमो सिद्धानं' पाठ प्राप्त होता है।

मंगलपद के उपरान्त अनेक लेखों में सं, सब, सवं, संवत्सर आदि वर्ष सूचक संकेत, तदनन्तर वर्य संख्या, ऋतु (ग्रीष्म आदि) का पूरा नाम अथवा प्रथमाक्षर, मासाङ्क, दिवस या दि. शब्द और दिनाङ्क प्राप्त होते हैं। अंकों में दहाई के अंक के उपरान्त दहाई सूचक शून्य रखकर इकाई का अङ्क लिखा जाता था, यथा 35 लिखना हुआ तो 305 लिखते थे 112 लिखना हुआतो 100102 लिखते थे। शककालीन शिलालेखों की तिथियों में जो कि ई.पू. 66 के 'पूर्वशक' संवत् में सूचित की गई प्रतीत होती है, प्रायः संवत्सर, संवत्सरे, सव या सवं शब्दों का प्रयोग हुआ है, जबकि कुषाणकालीन लेखों में मात्र 'स' या 'सं' का अथवा 'वर्षे' का प्रयोग अधिक मिलता है।

तिथि सूचन के पश्चात् 'एतस्य पूर्व्वाय', 'अस्या पूर्वाय', या 'अस्मिक्षुणे' जैसे शब्दों से लेख के प्रकृत विषय का प्रारम्भ होता है। पुराने शक आदि कालीन लेखों में 'अस्मिक्षुणे' का ही प्रयोग प्रायः मिलता है जबकि उपरान्तकाल- कुषाणआदि काल के लेखों में उसके स्थान पर 'एतस्यपूर्वाय' आदि का। इन्हीं पीछे के लेखों के अन्त में, कभी-कभी मध्य में भी, 'श्री गृह सम्भोग' या 'श्री गृहातो सम्भोगतो' पद प्राप्त होते हैं। लेख की समाप्ति सूचक इन शब्दों का आशय सम्भवतया 'जिनालय' या 'अर्हतायतन के लिये उद्दिष्ट' है। ये दान बहुधा किसी साधु या साध्वी

की प्रेरणा से किये जाते थे और इस तथ्य की सूचना उक्त गुरु या गुरुनी के नाम निर्देश के उपरान्त प्रयुक्त 'निर्वर्त्तनात' शब्द से प्रायः की गई है जिसके अर्थ 'अनुरोधात्' या 'उपदेशात' किये गयें हैं। एक लेख में इन्हीं अर्थों में 'परिग्रहे' शब्द प्रयुक्त हुआ है और एक गुप्तकालीन लेख में 'प्रज्ञपिताये' (आज्ञा से?)।

लगभग 30 शिलालेखों में तत्कालीन नरेशों के नाम भी प्राप्त होते हैं, जिनके अतिरिक्त तीन-चार लेख ऐसे हैं जिनमें 'महाराज', 'राजातिराज' आदि शब्दों से किसी शासक का सूचन तो किया गया है; किन्तु उसका नाम या तो खण्डित हो गया अथवा लिखने से छूट गया है। ऐसे भी अनेक लेख हैं जिनमें राजा का नाम संकेत न होने पर भी उनमें दी हुई तिथियों के आधार पर या उनमें उल्लिखित गुरुओं या गृहस्थों के नामों के आधार पर तत्कालीन शासक को चीन्ह लेना कठिन नहीं है। शासकों का स्पष्ट नामोल्लेख करने वाले जो 30 जैन लेख हैं उनमें से शक क्षत्रप मेवकि का 1, शक महाक्षत्रप रज्जुवुल का 1, क्षत्रप शोडास के 2, कुषाण नरेश कनिष्क के 4, हुविष्क के 14, वासुदेव के 6, गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त का 1, भरतपुर के जाट राजा केशरी सिंह (सूरजमल का पौत्र) का 1 हैं। शक क्षत्रपों के लिये 'महाराज महाक्षत्रप' या 'स्वामि महाक्षत्रप' उपाधियाँ प्रयुक्त हुई हैं और कुषाण नरेशों के लिये 'महाराज-राजातिराजदेवपुत्र-शाहि' उपाधि पूर्णतः या अंशतः प्रयुक्त हुई मिलती है। गुप्त सम्राट् के लिये 'परमभट्टारक महाराज श्री' और जाट राजा के लिये 'महाराज' विशेषण दिये गये हैं।

मथुरा के इन जैन शिलालेखों में जिन लगभग सवा सौ धर्म भक्त गृहस्थ पुरुषों (श्रावकों) का उल्लेख हुआ है उनके नाम निम्नप्रकार हैं-

अमोघदत्त, अरितंजय, इन्द्रपाल, उत्तरदासक, ओखरिक, कल, कलस, कुठ (कसुथ) कुमारभट्टि, खोट्टिमित्र, गिवसेन, गोप, गोशाल, गौप्तिपुत्र, गृहचेत, गृहदत्त, गृहदास, गृहमित्र, गृहसेन, गृहहस्ति, घृतकुण्डक, चांदका, चीरि, जय, जयदास, जयदेव, जयनाग, जयपाल, जयभट्टि, जयसिंह, जयनन्दि, जार, जोधराज, दत्त, दत्ति, दमित्र, दस (दशक), दातिल, दास, दित्र, देव, देवदास,देवसेन, देविल, धनहस्ति, धर्ममित्र, धर्मवृद्धि, नवहस्ति, नागदत्त, नन्दिक, नन्दिघोष, नन्दिबल, पाल,

पालघोष, पालित, पुष्यक, पोठघोष (प्रोस्थघोष), पृथु, प्रवरक, प्रियदेव, फल्गुदेव, फल्गुयश, बल, बाधिशिव, बुद्धि, बुद्धिल, बुबु, बोधनन्दि, बन्धुक, ब्रह्म, भट्टदत्त, भट्टिदास, भट्टिभव, भट्टिमित्र, भट्टिसेन, भत्तिबल, भद्रनन्दि, भद्रपाल, भद्रयश, भवनक, मलहण, रितुनन्दि, राजपाल, राज्यबसु, रुद्रदास, लवाडस, मातिल, वज्रनन्दि, वरणहस्ति, वरुण, वर्मा, वाथर, विष्णुभव, वेणि, शिवघोष, शिवदत्त, शिवदास, शिवदेव, शंकर, श्रमनक, सनकदास, सर्वत्रात, सिह, सिंह, सिंहनन्दि, सिंहविष्णु, सुचित, सूर, सोमगुप्त, संघनिधि, हरबल।

इनमें से कई नाम ऐसे हैं जिनका शिलालेख में एकाधिक बार उल्लेख हुआ है। कई नाम, यथा ओखरिक, कुठ, चीरि, दमित्र, बुबु, लवाडस आदि स्पष्टतः विदेशी हैं जो तत्कालीन मथुरा के यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि विदेशी जातीय जैनों के प्रतीत होते हैं। कई एक वहाँ की तत्कालीन जैन कलाकृतियों में भी शकादि विदेशी स्त्री-पुरुषों के अपनी जातीय वेशभूषा में मूर्त्ताङ्कन मिले हैं। लेखों में उपरोक्त जैन पुरुषों के नाम के साथ आर्य, श्रावक, श्रमणश्रावक, श्रमणोपासक आदि प्रतिष्ठा या धर्मसूचक विशेषण, मौद्गलि या मौद्गलिपुत्र गौप्ती या गौप्तिपुत्र, कौत्सिकी, कौत्सि, वत्सी या वत्सीपुत्र, हारीतिपुत्र, शैलालक आदि वंश या गोत्र सूचक विशेषण, और श्रेष्ठि, अनघश्रेष्ठि, हैरण्यक, मणिकार, सुवर्णिक, सार्थवाह, नापित, नर्त्तक, लोहवाणिय, लोहिककारुक, रायंगिनि, उगिभिनक, प्रतारिक, ग्रमिक, गोट्टिक, सनिक, कसुथ, भ्रतृक, गंजवर, गन्धिक, नादि, अभिसारक, वणिक आदि व्यवसाय सूचक विशेषण प्राप्त होते हैं। एक लेख में एक शेग्रव गोत्रीय ब्राह्मण का तथा 18वीं शती के लेख में चौधरी विशेषणधारी एक पल्लीवाल सेठ का उल्लेख हुआ है। पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता आदि शब्दों से पुरुषों के पारस्परिक कौटुम्बिक सम्बन्ध सूचित किये गये हैं। गौप्ति, वत्सी आदि वंश सूचक विशेषण विवक्षित व्यक्तियों का अभिजात कुलोत्पन्न होना अथवा उनका राजन्यवर्ग के साथ सम्बन्ध रहना सूचित करते हैं। दर्जनों व्यवसाय सूचक शब्द तत्कालीन मथुरा की समृद्धि तथा उसकी आर्थिक, औद्योगिक एवं व्यापारिक समुन्नति के परिचायक हैं। साथ ही उनसे यह भी स्पष्ट है कि कोई वर्ग या व्यवसाय किसी भी व्यक्ति के जैनी होने में बाधक

नहीं था, और तत्कालीन मथुरा का जैनधर्म वस्तुतः सार्ववर्णीय, सार्वजातीय एवं सार्ववर्गीय था।

ये लेख इस बात का प्रमाण है कि उस काल में अब जैसी जाति-पांति नहीं थी। सभी वर्णो के व्यक्ति सभी व्यवसाय कर सकते थे और विभिन्न व्यवसायों के करने वालों में परस्पर श्रेष्ठता या हीनता का कोई भाव नहीं था। वे सभी धर्मों के अनुयायी भी हो सकते थे। कम से कम, उस काल का जैनधर्म किसी एक वर्ण, जाति, वर्ग या व्यवसाय में सीमित नहीं था। विभिन्न व्यवसायों के व्यक्तियों के बीच परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार भी उन्मुक्त था। मणिकार, लोहवाणिय, गन्धिक आदि के बीच विवाह सम्बन्धों का होना इन लेखों से प्रमाणित है। सम्भवतया यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि मथुरावासी विदेशियों के साथ भी रोटी-बेटी व्यवहार में कोई बाधा नहीं थी। वर्तमान जैसी जातियाँ तो उस काल में बनी ही नहीं थी। जातियों का उदय एवं विधिवत जातीय संगठन या जाति व्यवस्था का प्रारम्भ तो पूर्व मध्यकाल (लगभग 9वीं से 12वीं शती के मध्य) में हुआ अनुमान किया जाता है। इन लेखों के काल में जातियाँ नहीं थी, वर्ण व्यवस्था अवश्य रही प्रतीत होती है, किन्तु वह भी कर्मतः अधिक थी जन्मतः बहुत कम। विभिन्न व्यवसायों के अपने-अपने व्यवस्थित संगठन भी थे, जो निगम, श्रेणी आदि कहलाते थे। प्रत्येक व्यवसाय की अपनी-अपनी गोट्ठि (गोष्ठियाँ, या प्रबन्ध समितियाँ, कालान्तर की बिरादरी पंचायतों जैसी) थीं, जिनके सदस्य गोट्ठिक कहलाते थे। व्यवसाय स्वेच्छानुसार परिवर्तित भी किये जा सकते थे, तथापि अनेक परिवारों में विशेष-विशेष व्यवसाय रूढ़ हो चले थे। यही प्रवृत्ति आगे चलकर जातियों की उत्पत्ति की मूलभित्ति बनी।

अभिलेखों में उपरोक्त श्रावकों के अतिरिक्त सत्तर-पचहत्तर धर्म-प्राण महिलाओं का तथा उनके धर्म कार्यों का उल्लेख है। इन महिलाओं के नाम हैं– अचला, अमोहिनी, अवश्री, उज्झटिका, ओखारिका, कलहस्तिनी, कुमार मित्रा, कुमारश्री, गुल्हा, गृहपाला, गृहमित्रा, गृहश्री, जयदासी, जयदेवी, जया, जिनदासी, जीत मित्रा, जीवनादा या जीवनन्दा, दत्ता, दत्तागाली, दाति, दीना, धनमित्रा, धरावला, धर्मसोमा, धामघोषा या धर्मघोषा, नागदीना या नागदत्ता, नादा या नन्दा, पूषा, बडमाशि, माशिगी,

मित्रश्री, मित्रा, मोषिनी, यशा, रुद्रदत्ता, रुद्रदेवा, रुद्रा, लवणशोभिका, वसु, वसुया, वामदासी, वाहिका, विकटा, विजय श्री, विद्या, शान्ति, शिवयशा, शिशुरिका, श्यामा, श्री, सिमिता, सिंहदत्ता, सुखिता, स्थिरा, हस्तिनि, हस्तिसेना, क्षुद्रा आदि।

इन नामों में से भी अनेक नाम ऐसे हैं जो कई-कई बार आये हैं, जिससे प्रगट है कि एक-एक नाम की कई-कई विभिन्न महिलाएँ थीं, जो स्वाभाविक है। एक-एक महिला ने भी कई-कई दानादि कार्य किये और अभिलेख लिखाये। इन नामों में भी उज्झटिका, ओखारिका, गुल्हा, बडमाशि, माशिगी, मोषिनी, वाहिका, शिशुरिका आदि नाम ऐसे हैं जो उनका यवन, शक, पह्लव, कुषाण आदि विदेशी जातियों की स्त्रियाँ होना सूचित करते हैं। ऐसे ही आधारों पर प्रसिद्ध प्राच्यविद् एवं पुरातत्त्वज्ञ प्रोफेसर एच. लूडर्स ने (भण्डारकर वाल्यूम में) कथन किया था कि, "मथुरा में पार्थियन (पह्लव) जाति के ऐसे अनेक व्यक्ति थे, जो शकक्षत्रपों के शासनकाल में इस नगर में आकर बस गये थे और यद्यपि वे जैनधर्म में दीक्षित हो गये थे उन्होंने अपनी मातृभूमि (पार्थिया) की परम्पराओं को भी सुरक्षित बनाये रक्खा।" इन विदेशी जातीय जैन महिलाओं में से ओखा प्रभृति जैन साध्वियाँ भी बनीं। अतएव ये विदेशी जैनधर्म के मात्र गृहस्थ अनुयायी– श्रावक-श्राविका ही नहीं थे वरन् उनमें से अनेक भारतीय जैनों की भाँति ही, मुनि या आर्यिका की दीक्षा भी ले लेते थे और उस रूप में और अधिक स्वपर कल्याण में रत होते थे।

धर्मात्मा महिलाओं के नाम के पूर्व बहुधा आर्या, श्राविका, श्रमणश्राविका, श्रमणोपासिका आदि विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। उनके पारस्परिक एवं पारिवारिक सम्बन्ध माता, धितु (पुत्री), पौत्री, भगिनी, पितामही, वधू (पुत्रवधू या पतोहु), भार्या या पत्नी, धर्मपत्नी, ज्येष्ठा या प्रथम पत्नी, कुटुम्बिनी (गृहणी, गृहस्वामिनी या मालकिन के अर्थों में) आदि शब्दों रो सूचित किये गये हैं। कतिपय अभिजात कुलोत्पन्न महिलाओं के लिए स्वामिनी, देवी प्रभृति विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। महिलाओं के सम्बन्धी पुरुषों का उनके पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता, शश्र (सास), शशुर, परिजन आदि रूपों में उल्लेख किया गया है। कई महिलाओं के नाम देकर केवल 'अमुक की पुत्री, पत्नी या पतोहु, आदि रूपों में उनका परिचय दिया गया है। कुछ महिलाओं के नामों के साथ व्यवसाय सूचक

विशेषण, यथा गणिका (वेश्या), रायंगिनी (रंगरेजिन), सार्थवाहिनी (वनजारिन) आदि का भी प्रयोग मिलता है जिससे प्रगट है कि देश की आर्थिक प्रवृत्तियों में भी इन महिलाओं का सक्रिय सहयोग था और यह कि गणिका के जैसा व्यवसाय भी उनके धर्मपालन एवं समान धर्माधिकार में बाधक नहीं था।

इन अभिलेखों से यह भी प्रमाणित है कि जैनधर्म एवं जैनकला के संरक्षण तथा पोषण में महिलाओं ने प्रशंसनीय योग दिया था। धर्मपालन में तो स्त्रियाँ बहुधा पुरुषों से आगे रहती हैं, मथुरा पुरातत्त्व में उपलब्ध जैनकला-कृतियों में से अधिकांश के निर्माण एवं प्रतिष्ठित कराने का श्रेय भी कुटुम्बिनी श्राविकाओं को ही है। प्रो. कृष्णदत्त बाजपेयी के शब्दों में "ये कलाकृतियाँ हमारी मूल्यवान् निधि हैं और जब तक ये विद्यमान रहेंगी तब तक उनका उदारचेता महिलाओं की मधुर स्मृति जागृत किये रहेंगी जिन्होंने इहलोक और परलोक में कल्याणका विस्तार करने के हेतु धार्मिक कृत्यों को निस्वार्थ रूप में अपनाया था।"

वस्तुतः तत्कालीन मथुरा का जैनसमाज उदार, प्रगतिशील एवं अग्रगामी था, उसके समस्त अंग सक्रिय एवं प्राणवान् थे। लेखों में जो उस काल के स्त्री-पुरुषों के नाम प्राप्त हुए हैं उनमें से अनेक नाम भी ऐसे हैं जो उस काल की उच्चसभ्यता, सुसंस्कृति एवं लोकरुचि के परिचायक हैं। मथुरा नगर एवं प्रदेश की समृद्धि एवं श्रेष्ठ संस्कृति की, विशेष कर वहाँ की उस काल की जैनसमाज की, जो सुन्दर झाँकी उपरोक्त जैन शिलालेखों में प्राप्त होती है उससे यह अनुमान भी सहज ही कियाजा सकता है कि प्रायः तत्कालीन बहुभाग सभ्यभारत की ऐसी ही दशा थी।

लगभग ईसापूर्व 200 से लेकर सन् ई. 300 तक के शिलालेखों की भाषा प्राकृत-संस्कृत मिश्र है और लिपि ब्राह्मी है, थोड़े से लेख खरोष्टी लिपि में भी हैं जो विदेशी पश्चिमी प्रभाव के सूचक हैं। इन लगभग 500 वर्ष से सम्बन्धित मथुरा के शिलालेख कुछ ऐसे शृङ्खलाबद्ध हैं कि इनके आधार पर उनमें प्रयुक्त भाषा एवं लिपि का क्रमिक विकास लक्ष्य किया जा सकता है। प्राकृत के व्याकरण, उस भाषा की विभिन्न बोलियों, शब्द प्रयोगों, शब्दों की व्युत्पत्ति एवं अर्थ विकास आदि के अध्ययन के लिये

भी ये लेख पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। वस्तुतः जैसा कि डॉ. विन्सेण्ट स्मिथ ने (जैन स्तूप, पृ. 409) पर कथन किया है "ये अभिलेख अन्य बातों के अतिरिक्त भारतीय या ब्राह्मी लिपि के इतिहास, प्राकृत भाषाओं के व्याकरण एवं मुहावरों, भारतीय कला के विकास, उत्तर भारत के राजनैतिक एवं सामाजिक इतिहास और (इस अर्थात् जैन) भारतीय धर्म के अनुयायियों के इतिहास, संगठन एवं पूजा-पद्धति पर प्रकाश डालते हैं।" तथा यह कि "इन खोजों ने अनेक अंशों में लिखित जैन अनुश्रुतियों को समर्थन प्रदान किया है और जैनधर्म की प्राचीनता का तथा उसके प्रायः वर्तमान रूप से ही अतिप्राचीनकाल में विद्यमान रहने का अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है। यह स्पष्ट है कि ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग भी अपने-अपने विशिष्ट लांछनों से युक्त चौबीस तीर्थङ्करों की परम्परा में लोगों का दृढ़ विश्वास था।" कंकाली टीले के उत्खनन में विशेष योग देने वाले डॉ. फुहरर ने इन लेखों के आधार पर उस काल के मथुरा के जैनों की ऐतिहासिक बुद्धि तथा उनकी अपने दानादि धार्मिक कृत्यों का व्यवस्थित लेखा रखने की प्रवृत्ति की बड़ी सराहना की है। व्हूलर, फ्लीट, बर्गेस, जैकोबी, रैप्सन, रामप्रसाद चांदा आदि प्राच्यविदों ने भी इन अभिलेखों की इसी बात के लिये बड़ी प्रशंसा की है और अनेक जैन अरुश्रुतियों की प्रामाणिकता एवं प्राचीनता का साधक माना है। अनेक जैन मान्यताओं, पाठों एवं प्रतीकों की प्राचीनता भी उनसे सिद्ध है। कोल, उच्चैनगर, संकिषा, माध्यमिका, अहिच्छत्रा, राधा, वज्रनगरी आदि उस काल में उत्तर भारत के अन्य प्रसिद्ध जैनकेन्द्र थे यह बात भी इन लेखों से सूचित होती है।

इन लेखों से प्रतीत होता है कि जैन वोद्व स्तूप (वर्तमान कंकाली टीला) का क्षेत्र तो उस काल में मथुरा में जैनधर्म का सर्वप्रधान केन्द्र था ही और उनके अनेक विशाल एवं सुन्दर धर्मायतनों से समलङ्कृत था, मथुरा नगर में अन्यत्र भी तथा उसके आस-पास के कई विभिन्न स्थानों में भी जैन मुनियों एवं साध्वियों के सुव्यवस्थित संस्थान, विहार, आश्रम आदि थे जो ज्ञान, शिक्षा एवं धर्माचरण के प्रमुख सार्वजनिक स्थान थे- केवल त्यागी ही नहीं गृहस्थ भी उनका समुचित लाभ उठाते थे।

●

मथुरा का सुप्रसिद्ध सरस्वती आन्दोलन और उसका प्रभाव

डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी*

जैन-परम्परा में लगभग दो हजार वर्ष पूर्व मथुरा का "सरस्वती आन्दोलन" विश्व इतिहास की एक ऐसी अद्‌भुत घटना है, जिसकी मिसाल अन्यत्र दुर्लभ है। यह कोई बीसवीं शती के राजनैतिक आन्दोलनों जैसा आन्दोलन नहीं था, अपितु श्रुतज्ञान की धारा को अविच्छिन्न बनाये रखने, उसके संरक्षण एवं प्रचार-प्रसार के प्रति आचार्यों, विद्वानों एवं तत्कालीन विशाल जनसमुदाय की जागरूकता, प्रगतिशीलता, समर्पण एवं आस्था का प्रतीक आन्दोलन था जिसने इस श्रुत-सम्पदा की रक्षा के लिए एक क्रान्ति की और इसी की प्रतिबद्धता का जीता-जागता उदाहरण माँ जिनवाणी, श्रुतदेवी स्वरूपा पुस्तक (शास्त्र) धारिणी सरस्वती देवी की प्रतिमायें बनवाकर प्रतिष्ठित कीं और ज्ञान की इस देवी को अपने आन्दोलन की अधिष्ठात्री बनाया। मथुरा के जैन साधु ही इस क्रान्ति रूप आन्दोलन के पुरस्कर्ता, प्रवर्तक एवं आद्यवेत्ता थे, जिन्होंने मूर्तियाँ, अन्यान्य स्मारक, विविध कलाकृतियाँ बनवाकर उन पर शिलालेख का अंकन प्रारम्भ करके इस आन्दोलन को सक्रिय किया। यदि मथुरा के उस कंकाली टीले के उत्खनन से सन् 132 की शिलालेखयुक्त जैन सरस्वती की यह मूर्ति[1] न मिलती, तो सम्भवतः इस सारस्वत अभियान स्वरूप इस महान् और प्रथम सरस्वती आन्दोलन का विश्व की इस प्रथम अद्‌भुत घटना का पता ही नहीं चलता।

1. सरस्वती की इस मूर्ति के चित्र को ग्रन्थ के अन्त में संकलित चित्रों में देखें। यह मूर्ति मथुरा के कंकाली टीले से उत्खनन में खण्डित (शिरविहीन) रूप में प्राप्त हुई थी।

*. अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-2.

मूर्ताङ्कन रूप में शिलालेख एवं तिथि के उल्लेख-सहित भारत की सर्वाधिक प्राचीन सरस्वती की मूर्ति निर्माण एवं प्रतिष्ठित करने का प्रथम श्रेय मथुरा को प्राप्त है।

कर्मभूमि के मानवों को राजा ऋषभदेव ने, जब वे गृहस्थ थे और प्रजानायक भी, तब जीविकोपार्जनार्थ तथा अन्य व्यवहार निर्वहन हेतु पुरुषार्थ पर आधारित सभ्यता के प्रथम पाठ पढ़ाये, जीवन जीने की कला सिखलाई तथा भाषा-लिपि एवं अंकगणित सहित सभ्यता और संस्कृति से सम्बन्धित सभी 64 कलाओं का अविष्कार कर मानव समाज के हितार्थ प्रदान किया।

वस्तुतः वर्तमान अवसर्पिणी महाकाल खण्ड के तीसरे आरे की समाप्ति में जब एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व, तीन वर्ष आठ महीने पन्द्रह दिन शेष थे, तब फाल्गुन कृष्णा एकादशी को इस देश में प्रथम बार श्रुतावतरण हुआ था। आदि-तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने सभी जीवों के कल्याणार्थ प्रथम दिव्य देशना दी और धर्मचक्र का प्रथम बार प्रवर्तन हुआ।

जबसे प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने सर्वोच्चज्ञान केवलज्ञान प्राप्त करके तीर्थङ्कर के रूप में प्रथम दिव्य ध्वनि के माध्यम से श्रुतावतरण का श्रेय प्राप्त किया तभी से श्रुतज्ञान की अजस्र गङ्गा प्रवहमान होती चली आ रही है। यद्यपि कालदोष तथा अन्य परिस्थितियों के कारण इसकी धारा बीच-बीच में थोड़ी-बहुत मलिन भी हुई, साथ ही अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर सहित तेईस तीर्थङ्करों ने उसे अपने-अपने समय की परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार इसमें संवर्द्धन-संशोधन भी किया। इसी श्रुतधारा के अन्तिम शोधक-प्रस्तोता अन्तिम तीर्थङ्कर श्रमण भगवान् महावीर थे, जिन्होंने केवलज्ञान प्राप्ति के बाद श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को 557 वर्ष ईसा पूर्व पञ्चशैल राजगृह नगरी के विपुलाचल पर्वत पर अपनी प्रथम देशना (धर्मोपदेश) दिव्यध्वनि के माध्यम से देकर धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। इनके प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों ने इस दिव्यध्वनि को अर्थरूप ग्रहण कर, उसे शब्दों में गुम्फित किया और उसे द्वादशाङ्ग 'श्रुत' का रूप दिया। इसी ज्ञानामृत रूप द्वादशाङ्ग श्रुतधारा के संरक्षण की चिन्ता के कारण मथुरा के जैन साधु समुदाय

ने सम्पूर्ण प्रजाजनों को साथ मिलाकर "सरस्वती-आन्दोलन' के लिए प्रेरित किया और इसकी अधिष्ठात्री शास्त्रधारिणी देवी "सरस्वती" की मूर्ति प्रतिष्ठित करके सम्पूर्ण देश में क्रान्ति और जागृति पैदा की।

वस्तुतः श्रुतावतरण के समय भी गौतमादि गणधरदेवों द्वारा श्रुत गुम्फन के बावजूद इन्हें लिपिबद्ध करने की अपेक्षा पूर्व परम्परा के अनुसार इस श्रुतसम्पदा को गुरु-शिष्य परम्परा विधि द्वारा कण्ठस्थ विधि से इसे धारण करते हुए अगले छह सौ वर्षों तक संरक्षित रखने का पूरा प्रयास हमारे पूज्य आचार्यों ने प्राणप्रण से किया। इस प्रयास का यह फल भी सामने आया कि इससे आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तःकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकश्रुत और दृष्टिवाद- इस द्वादशाङ्ग श्रुत का निर्दोष संरक्षण तीर्थङ्कर महावीर निर्वाण के 162 वर्ष बाद तक ही सम्भव हो सका। अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी के बाद प्रज्ञावान् वाग्मनीषी आचार्यों के अभाव के साथ ही स्मृतिक्षीणता के लक्षण और उदाहरण जब सामने आने लगे तब हमारे आचार्यों को यह श्रुतज्ञान लम्बे समय तक सुरक्षित रखने की चिन्ता हुई; किन्तु उन श्रुतधराचार्यों के अभाव और स्मृतिक्षीणता के कारण उस सम्पूर्ण मूल श्रुत का बहुभाग क्षत-विक्षत और विलुप्त होता चला गया और विवेकशील आचार्यों को श्रुत के उस भाग को विलुप्त घोषित करना पड़ा और साथ ही अवशिष्ट ज्ञान को वाचना के माध्यम से सुरक्षित करने का पूरा प्रयास करके हमारे आचार्यों ने सरस्वती आन्दोलन जैसे जागृतिपूर्ण आन्दोलनों के माध्यम से अवशिष्ट श्रुत की रक्षा की।

आगम वाचनायें और सरस्वती आन्दोलन

इसका प्रभाव यह हुआ कि द्वादशाङ्ग श्रुत के अवशिष्ट अंशों के एकदेश ज्ञाता श्रुतधर आचार्यों की अक्षुण्ण-परम्परा ईसा की पहली-दूसरी शताब्दि तक तो अवश्य ही चलती रही। इसी आन्दोलन की यह देन है कि हमारे तत्कालीन प्रज्ञावान् आचार्यों ने अपनी गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्त श्रुतांशों को भी भविष्य में स्मृति क्षीणता एवं कालदोष से बचाने के लिए उस श्रुतज्ञान को ग्रन्थारूढ़ (शास्त्रबद्ध) करना अर्थात् ग्रन्थों के रूप में निबद्ध करना प्रारम्भ करना पड़ा। सुप्रसिद्ध "माथुरी वाचना" इसी सरस्वती आन्दोलन की देन है।

यद्यपि इसके पूर्व पाटलिपुत्र वाचना महावीर निर्वाण के 160 वर्ष बाद स्थूलभद्राचार्य की अध्यक्षता में हो चुकी थी, जिसमें उपस्थित श्रुतधरों की स्मृति के आधार पर ग्यारह अंगों का सङ्कलन किया गया था। दृष्टिवाद नामक बारहवें अङ्ग का ज्ञान वहाँ उपस्थित श्रुतधरों में से किसी को न होने के कारण उसे सङ्कलित नहीं किया जा सका। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुसार[1] जैन मुनियों की अपरिग्रहवृत्ति, वर्षाकाल को छोड़ शेष समय में निरन्तर परिभ्रमण एवं उस काल की अन्य कठिनाईयों के कारण यह अङ्गज्ञान पुनः छिन्न-भिन्न होने लगा।

इधर मगध में मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् जैन मुनियों का मगध से स्थानान्तरित होना तथा जैनधर्म के केन्द्र का वहाँ से टूट जाना स्वाभाविक ही था। अतः जैनधर्म का केन्द्र मगध से हटने के पश्चात् मथुरा ही बना। कुषाणवंशी राजाओं के समय जैनधर्म की पर्याप्त उन्नति हुई। अतः वीर निर्वाण के 827-840 वर्ष के मध्य मथुरा में मुनिसंघ का सम्मेलन बुलाया और उन्हीं ग्यारह अङ्गों को पुनः एक बार व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया। कहा जाता है कि उस समय भी बारह वर्ष का भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा था, जिससे बहुत-सा श्रुत नष्ट तथा विच्छिन्न हो गया था। फिर भी इस माथुरी वाचना में सङ्कलित और व्यवस्थित सिद्धान्तों को मान्यता प्रदान की गयी।

इस तरह भारतदेश के पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण तक समय-समय पर आचार्यों, मुनियों के सम्मेलन बुलाकर उन्हें परम्परा से प्राप्त श्रुत को निबद्ध करने के उद्देश्य से देश के विभिन्न क्षेत्रों में वाचनाओं का आयोजन इसी सरस्वती आन्दोलन के कारण सम्भव हुआ। पाटलिपुत्र वाचना, बलभी वाचना तथा अन्यान्य अज्ञात वाचनाओं के माध्यम से श्रुत संरक्षण के प्रयास किये गये। अब से दो हजार से भी अधिक वर्ष पूर्व कलिंग सम्राट् खारवेल ने भी इसी सरस्वती आन्दोलन से प्रभावित हो, उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर के पास उदयगिरि-खण्डगिरि में एक बृहद् श्रमण सम्मेलन के आयोजन का कार्य करके इसी तरह के प्रयास की एक प्रमुख और ऐतिहासिक श्रुतज्ञानसंरक्षण के महान् कार्य का निर्बहन किया। जिसका उल्लेख ईसा पूर्व की प्रथम शती में यहाँ उत्कीर्ण हाथी गुम्फा के प्राकृत भाषा और ब्राह्मी लिपि वाले बृहद् लेख में मिलता है।

वलभी वाचना और वर्तमान अर्धमागधी आगम

यद्यपि श्वेताम्बर जैन-परम्परा मान्य अन्तिम वाचना वीर नि.सं. 980 में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में वलभी नगर में आयोजित हुई। इस सम्मेलन में विविध पाठान्तर और वाचना-भेद का समन्वय करके माथुरी वाचना के आधार पर आगमों को सङ्कलित कर लिपिबद्ध किया गया। जिन पाठों का समन्वय नहीं हो सका, उसका "वायणान्तरे पुण", "नागार्जुनीयास्तु एवं वदन्ति" इत्यादि रूप से उल्लेख किया गया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य वर्तमान आगम इसी सङ्कलना के परिणाम हैं।[1] इसी वाचना के परिणामस्वरूप श्वेताम्बर-परम्परा में अबतक अर्धमागधी प्राकृत भाषा में 45 आगम विद्यमान हैं। इनमें 11 अङ्ग, 12 उपाङ्ग, 6 छेदसूत्र, 4 मूलसूत्र, 10 प्रकीर्णक और दो चूलिका हैं। यह अलग बात है कि वर्तमान श्वेताम्बर सम्प्रदाय की तीनों परम्पराओं में इन 45 आगमों की मान्यता के सम्बन्ध में भी अन्तर है।

एक आश्चर्य यह है कि दिगम्बर जैन-परम्परा में प्रसिद्ध आचार्य शिवार्य द्वारा रचित एवं आ. अपराजिसूरि की विजयोदया टीका से विभूषित "भगवती आराधना" जैसे महान् ग्रन्थ में दशवैकालिक आदि कुछ आगमों के ऐसे अंश उद्धरण रूप में प्रस्तुत किये गये हैं, जो कि वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी आगम के उन ग्रन्थों में नहीं हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि बलभी वाचनाओं के पूर्व की माथुरी आदि वाचनाओं के वे कुछ अंश आज भी भगवती आराधना आदि में उपलब्ध हैं, जो विभाजन पूर्व के थे।

शौरसेनी आगम का पुस्तकारूढ़ होना

मथुरा के उस सरस्वती आन्दोलन का प्रभाव धीरे-धीरे पूरे देश में बढ़ता ही गया और हमारे प्रज्ञावान् आचार्यों ने श्रुति-परम्परा से प्राप्त श्रुतांशों को भी भविष्य में स्मृति-क्षीणता एवं कालदोष के प्रभाव से बचाने की चिन्ता से उन्हें ग्रन्थों के रूप में निबद्ध करने का अभियान शुभारम्भ करने की इच्छा हुई, क्योंकि उन्होंने देखा कि अब तक अङ्गों और पूर्वों के पूर्ण ज्ञाता आचार्यों का अभाव हो गया है। मात्र इनके एकदेश ज्ञान के धारक आचार्य ही बचे थे। इनमें आचार्य धरसेन स्वामी प्रमुख थे जो गिरिनार पर्वत (काठियावाद, गुजरात) की चन्द्रगुफा में ध्यान साधना

में लीन थे; किन्तु जब इन्होंने अपना आयुष्य कुछ ही काल शेष जाना तब उन्हें सर्वाधिक चिन्ता हुई कि कहीं मेरी आयु की समाप्ति के साथ ही यह अङ्ग और पूर्वों का अवशिष्ट एकदेश ज्ञान मेरे जीवन के साथ ही समाप्त न हो जाए, अतः उन्होंने अपनी आयु के अवशिष्ट कुछ ही दिनों में उस ज्ञान की वाचना योग्य शिष्यों को देकर उन्हें पुस्तकारूढ़ करा देने का विकल्प उनके मन में आया। इसके लिए उन्होंने दक्षिणापथ के महिमा नगरी में विहार कर रहे विशाल श्रमणसंघ को इस आशय का एक सन्देश लिखकर पत्र भिजवाया।

आचार्य धरसेन जैसे प्रज्ञावान् श्रुतधर वरिष्ठ आचार्य का पत्र पाते ही स्थिति की गम्भीरता को समझते हुए दक्षिणापथ के उस संघ ने भी शीघ्र ही दो योग्यतम मुनियों को गिरिनगर की ओर प्रस्थान कराया। विकट लम्बे रास्तों पर निरन्तर पैदल विहार करते हुए, अनेक उपसर्ग और परिषहों की चिन्ता किये बिना मात्र श्रुतरक्षा के एक ही लक्ष्य को केन्द्र में रखकर वे दोनों मुनि गिरनार पहुँचे। जिस दिन ये दोनों साधु आचार्य धरसेन के चरण सान्निध्य में पहुँचने वाले थे, उस दिन की पिछली रात्रि में आये स्वप्न में आचार्य धरसेन ने कुन्दपुष्प, चन्द्रमा और शङ्ख के समान श्वेत वर्ण वाले हृष्ट-पुष्ट दो बैलों को अपने चरणों में प्रणाम करते हुए देखा। ऐसे सुखद स्वप्न को देखकर आचार्यश्री मन ही मन अत्यन्त प्रमुदित और आश्वस्त हुए। उन्होंने इस स्वप्न के फलितार्थ में यही सोचा कि अब इस आगम रूप रथ को आगे तक बढ़ाकर गतिमान रखने वाले समर्थ शिष्य निश्चित ही मिलेंगे। ऐसा सोचते ही उनके मुख से निकला –"जयउ सुय-देवदा" अर्थात् "समस्त जीवों का कल्याण करने वाली श्रुतदेवी जिनवाणी जयवन्त रहे।"

जब आचार्य धरसेनस्वामी के चरण सान्निध्य में विनयपूर्वक ये दोनों शिष्य उपस्थित हुए और निमित्तज्ञानी एवं योगी आचार्य धरसेन ने इनके तेजस्वी मुख को देखा तो अत्यन्त प्रमुदित हो चिन्तामुक्त हो गये।

यद्यपि सरस्वती के अवतार रूप इन दोनों शिष्यों की विद्वत्ता, तपस्या, विनयशीलता और संयम-साधना की तेजस्विता और सामर्थ्य को वे समझ गये थे, फिर भी उन्होंने उनकी सब तरह से परीक्षा ली और उसमें पूरी तरह सफल होने पर पुष्पदन्त और भूतबलि नाम प्राप्त मुनिद्वय को अत्यन्त

शुभ मुहूर्त में आचार्य धरसेन ने द्वादशाङ्ग श्रुत के बारहवें और अन्तिम अङ्ग दृष्टिवाद में समाहित अग्रायणी पूर्व की चयनलब्धि-अधिकार से कम्मपयडिपाहुड की वाचना देना प्रारम्भ किया।

अद्भुत प्रतिभाशाली इन दोनों शिष्यों ने प्रदत्त इस श्रुतज्ञान को अमृत समझ शीघ्र ही धारण कर दिया। यह अध्ययन-अध्यापन का कार्य आषाढ़ शुक्ला 15 के दिन पूर्ण हुआ। वे दोनों मुनि इस आगम ज्ञान के पूर्ण पारङ्गत हो गये, तब आचार्य धरसेन सर्वाधिक निश्चिन्त्य हो गये। अपना अन्तिम समय जान आत्मकल्याण की निर्विघ्न पूर्णाहुति हेतु आचार्य धरसेन ने ध्यान साधना में लीन होने से पहले अपने अन्तर्मन में यह देखा कि कहीं इन दोनों शिष्यों के प्रति गाढ़ अनुराग मेरी साधना में बाधक न बने, अतः उन्हें यथायोग्य उपदेश देकर दूसरे ही दिन वहाँ से अन्यत्र विहार करने का आदेश दिया। पुष्पदन्त और भूतबलि नामक ये दोनों साधु गुरु-आज्ञा को शिरोधार्य कर वहाँ से विहार कर अंकलेश्वर पधारे और यहाँ चातुर्मास का निश्चय किया। अनुकूल क्षेत्र-काल समझ वे दोनों साधु आचार्य गुरुदेव से प्राप्त इस आगम ज्ञान को लिपिबद्ध करने में तल्लीन हो गये।

दिगम्बर परम्परानुसार इस षट्खण्डागम रूप आगमज्ञान को सर्वप्रथम लिपिबद्ध और पुस्तकारूढ़ करने का सर्वप्रथम श्रेय इन्हीं दोनों आचार्य पुष्पदन्त-भूतबलि को दिया जाता है। जिस दिन वे आगम रूप शास्त्र पूर्णरूप से पुस्तकारूढ़ हुए, वह पवित्र दिन ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी था, जो कि आगे चलकर श्रुतपञ्चमी और ज्ञानपञ्चमी पर्व नाम से विख्यात हुआ। चतुर्विधसंघ ने इस शुभ दिन को श्रुतावतरण की संज्ञा दी और इस तरह यह दिन भी उस सरस्वती आन्दोलन को आगे बढ़ाने वाला मूलप्रेरक और सदा के लिए यादगार दिन बन गया।

आचार्य धरसेन स्वामी से प्राप्त इस आगमज्ञानांश को "षट्खण्डागम' नाम से पुस्तकारूढ़ करने का श्रेय प्राप्त करने वाले आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि के इस महान् सिद्धान्तग्रन्थ को दिगम्बर परम्परा में सर्वोपरि महत्ता और पूज्यता प्राप्त है। इस ग्रन्थ के छह खण्डो के तलस्पर्शी ज्ञानार्जन को चक्रवर्ती के छहखण्ड पृथ्वीविजय करने के समान दुष्कर माना गया है। इसी कारण आगे चलकर दसवी शती के महान् आचार्य नेमिचन्द्र

इस महान् ग्रन्थ के अनन्य अध्येता बनकर इसके सारभूत ग्रन्थ गोम्मटसार की रचना करके सिद्धान्त-चक्रवर्ति कहलाये।

षट्खण्डागम के द्वारा आगमज्ञान पुस्तकारूढ़ होने का मार्ग प्रशस्त हो जाने के बाद पुस्तकारूढ़ करने की जो गङ्गा प्रवाहित हुई उसमें शताधिक आचार्यों ने अपने ज्ञान और अनुभव से अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। आचार्य गुणधर रचित कसायपाहुड की गणना भी इसी शौरसेनी आगमज्ञान की यथार्थ-परम्परा के अन्तर्गत गौरवपूर्ण आगम ग्रन्थ के रूप में की जाती है। षट्खण्डागम और कसायपाहुड इन दोनों ही सिद्धान्त-ग्रन्थों पर आगे चलकर आचार्य वीरसेन और आचार्य जिनसेन ने मिलकर क्रमशः धवला और जयधवला नाम से विशाल टीकायें लिखीं।

लगभग पहली शताब्दी के ही आसपास आचार्य शिवार्य ने भगवती आराधना, आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार तथा आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड, बारस अणुवेक्खा, रयणसार आदि ग्रन्थों का प्रणयन कर इस श्रुतज्ञान की धारा को तेजस्विता प्रदान की। इसके बाद तो आगम ज्ञान के आधार पर आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर जैसे शताधिक आचार्यों की विशाल परम्परा ने इस आन्दोलन की धारा इतनी तेज गति से प्रवाहित की, जिसका साक्षात् प्रमाण इन महान् आचार्यों द्वारा प्रणीत विशाल वाङ्मय की वर्तमान में उपलब्धता है। इतना ही नहीं जैनधर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दोनों परम्पराओं में इस सरस्वती आन्दोलन का इस तरह गहरा प्रभाव हुआ कि प्राकृत भाषा के साथ-साथ संस्कृत, अपभ्रंश तथा अन्यान्य सभी प्रान्तीय और क्षेत्रीय भाषाओं में प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग- इन चारों अनुयोगों के सभी विषयों पर अगणित शास्त्रों के प्रणयन की अबाध परम्परा से जो सरस्वती आन्दोलन गतिमान होता रहा, वह अब भी इस इक्कीसवीं शती में निरन्तर प्रवहमान है।

सरस्वती आन्दोलन की प्रतीक सरस्वती के मूर्ताङ्कन का शुभारम्भ

पूर्वोक्त वृतान्त तो सरस्वती आन्दोलन से आन्दोलित हो आचार्यों द्वारा सरस्वतीरूपी ज्ञान गङ्गा के प्रवाह रूप शास्त्र-प्रणयन का है। उधर ई.सन् 132 की अब तक सर्वाधिक प्राचीन शिलालेख उक्त सरस्वती की

मूर्ति, जो कि मथुरा के कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त हुई वह इस सरस्वती आन्दोलन की प्रतीक थी। सरस्वती के इस मूर्ताङ्कन के शुभारम्भ के साथ ही देश में सर्वत्र सरस्वती की मूर्तियों के निर्माण का भी अभियान चल पड़ा।

इसी क्रम में स्थापत्यकला से भरपूर देश के अनेक उत्कृष्ट प्राचीन जैन मन्दिरों में विभिन्न लक्षणों एवं मुद्राओं में प्राचीन से प्राचीन और अर्वाचीन से अर्वाचीन सरस्वती की कलात्मक रूप में सुन्दर, स्वतन्त्र एवं परिकरयुक्त मूर्तियाँ देखने को मिलती हैं। पल्लू (बीकानेर) से प्राप्त सरस्वती की दोनों सुन्दर मूर्तियाँ बहुत ही प्रसिद्ध है। इनमें से एक मूर्ति बीकानेर के पुरातत्त्व संग्रहालय में तथा दूसरी राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में संगृहीत हैं।

एक बहुत ही अतिशय भाव भंगिमाओं युक्त सुन्दर, किन्तु कम प्रसिद्ध श्वेत पाषाण की खड्गासन मुद्रा में कलापूर्ण सरस्वती की मूर्ति राजस्थान में नागौर जिले के लाडनूँ नगर के दिगम्बर जैन प्राचीन बड़े मन्दिर में परिकरसहित स्थापित है, जो कलात्मकता, भव्यता एवं सौम्यता आदि गुणों से युक्त अद्वितीय मूर्ति है। यह बारहवीं शती के मध्यकाल की है; किन्तु ज्ञान और शिल्प को प्रभावी सौन्दर्य की एक गहरी संवेदना से मिश्रित यह मूर्ति दर्शकों को स्वयं ही आकर्षित कर लेती है।

वस्तुतः भारतीय कला धार्मिकता से ओत-प्रोत है। उसमें आध्यात्मिकता की गहरी छाप है। श्रेष्ठ मूर्तियों के जितने उदाहरण देखते हैं, सभी में एक पवित्र लावण्य और निर्मलधारा प्रवाहित होती दिखाई देती है। यही कारण है कि जब कभी भारतीय शिल्पकारों ने नारी को अपने शिल्प का विषय बनाया, तब अधिकतर उसे माँ के रूप में प्रदर्शित किया। यही कारण है कि भारतीय देवियों में सरस्वती को सदा माता का सच्चा स्वरूप प्रदान किया जाता है। इसीलिए जैनधर्म में जिनवाणी, वाग्देवी तथा श्रुतदेवता के रूप में सरस्वती की मान्यता प्राचीनकाल से ही प्रचलित है। आगमिक ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी के रूप में जिनवाणी स्वरूपा सरस्वती को उसका प्रतीक बनाया गया और उसकी उपासना प्रारम्भ हुई तथा पवित्र आगमिक ज्ञान को प्रतीकात्मक रूप देने के लिए श्रुतदेवी या ज्ञानदेवी सरस्वती की प्रतिमाओं के निर्माण का सर्वप्रथम

प्रारम्भ ईसा पूर्व की दूसरी शती में मथुरा के इसी सरस्वती आन्दोलन से दिखलाई देता है। यही कारण है कि आज अनेक कलापूर्ण सरस्वती की प्रसिद्ध मूर्तियाँ देश के जैन मन्दिरों की दीवालों पर अथवा स्तम्भ रूप में विराजित हैं। सरस्वती के मूर्तांकन की परम्परा मात्र जैन तक ही सीमित नहीं रही, अपितु सरस्वती के विभिन्न रूपों के मूर्तांकन की परम्परा भारत की अनेक धर्म-परम्पराओं में प्रचलित दिखलाई देने लगी।

आचार्य हेमचन्द्र ने सरस्वती के वाक्, ब्राह्मी, भारती, गौ, गी, वाणी, भाषा और श्रुतदेवी- ये नाम बताये हैं। इन नामों के अनुरूप गुणों का संयोजन करके मूर्तिकारों ने मथुरा की इसी सरस्वती मूर्ति और सरस्वती आन्दोलन से प्रभावित हो विभिन्न मुद्राओं में सरस्वती की मूर्तियों का निर्माण किया। इतना ही नहीं अपितु जैनधर्म की दोनों परम्पराओं में इसी के विकास स्वरूप आगे चलकर सोलह विद्या-देवियों के मूर्ताङ्कन की भी परम्परा चल पड़ी। लाडनूं के पूर्वोक्त जैन मन्दिर में एक ही श्वेत-पाषाणफलक पर सोलह विद्या देवियों का दुर्लभ मूर्ताङ्कन भी स्थापित मिलता है। ये सोलह विद्या देवियाँ हैं- रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृङ्खला, वज्रांकुशा, जाम्बूनदा, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गाँधारी, ज्वालामालिनी, मानवी, वैरोटी, अच्युता, मानसी और महामानसी। पुरातत्त्वविद् श्री बालचन्द जैन ने "जैनप्रतिमा विज्ञान (पृ. 54) में इन सोलह विद्यादेवियों के विषय में लिखा है कि जैनों की ये विद्यादेवियाँ अपने नाम के अनुसार वाणी की विभिन्न प्रकृतियों के कल्पित मूर्तरूप हैं।

इस प्रकार यह सरस्वती आन्दोलन और इसका व्यापक प्रभाव तथा इस आन्दोलन की प्रतीक स्वरूप वाग्देवी सरस्वती के मूर्तांकन का अध्ययन आज भी जिनवाणी रूप श्रुतज्ञान की उस दीर्घ और प्राचीन परम्परा को सतत् वर्धमान बनाये रखने के संकल्प की प्रेरणा देता है, जिसे हमारे तीर्थंकरों और इनकी परम्परा के सहस्रों महामनीषि आचार्यों ने संरक्षित करके हम तक पहुँचाया। उस अमूल्य विरासत को आगे बढ़ाने वाले हम सही उत्तराधिकारी बनें- यही आकांक्षा और प्रार्थना है।

●

1. प्राकृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 164.
2. प्राकृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 164

मथुरा में कंकाली से भिन्न जैन स्थलों का परिचय

डॉ. शैलेन्द्रकुमार रस्तोगी*

आज की मथुरा ताज नगरी आगरा से 28 किलोमीटर और भारत की राजधानी दिल्ली से 145 किलोमीटर पर अवस्थित है। इस नगरी के उत्तर हरियाणा का गुड़गाँव, पश्चिम में भरतपुर राजस्थान, उत्तर-पूर्व अलीगढ़, पूर्व ऐटा, दक्षिण में आगरा जनपद है। यहाँ नीचे पर्वत गोवर्धन नन्दगाँव, बर्साना सभी अरावली की पट्टी से जुड़े हैं।[1] वर्तमान मथुरा तथा उसके आस-पास के प्रदेश, जिसे 'ब्रज' कहा जाता है, इसी ब्रज मण्डल की मुकुटमणि मथुरा ही है। प्राचीन शूरसेन महाजनपद में मथुरा का क्षेत्र आता है। जनपदों की सीमायें समय-समय पर घटती-बढ़ती रही। वर्तमान समय में शासन द्वारा नवघोषित जनपदों से कौन अपरिचित होगा? अस्तु, शूरसेन महाजनपद मच्छ या मत्स्य जनपद के दक्षिण-पश्चिम और पूर्व के दक्षिण में स्थित था। इसके पूर्व में पाञ्चाल और दक्षिण में दशार्ण पूर्वी मालवा था।[2] इस जनपद की राजधानी मथुरा थी। यह रमणीय समृद्ध नगर था, जो अपने व्यापार के लिये प्रसिद्ध था। यह उत्तरापथ के तक्षशिला मार्गों द्वारा जुड़ा था। दक्षिणापथ को भी यहाँ से ही मार्ग जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि शूरसेन जनपद की यह संज्ञा लगभग ईसवी सन् के आरम्भ तक जारी रही जब उस समय से यहाँ विदेशी शासक कुषाणों का प्रभुत्व हुआ, तभी सम्भवतः जनपद की संज्ञा उसकी राजधानी के नाम पर मथुरा हो गई।[3] तत्कालीन तथा उसके बाद के जो अभिलेख मिलते है उनमें प्रायः मथुरा नाम ही मिलता है, शूरसेन नहीं।

सातवीं सदी ईसवी में, चीनी यात्री ह्वेनसांग ने मथुरा का विस्तार पाँच हजार ली (लगभग 833 मील) लिखा है। इस वर्णन से पता चलता है कि सातवीं सदी में मथुरा राज्य के अन्तर्गत वर्तमान मथुरा, आगरा

---

*. रस्तोगी टोला, लखनऊ.

जिलों के अतिरिक्त आधुनिक भरतपुर तथा धौलपुर और दूसरी ओर मध्यदेश का उत्तरी लगभग आधा भाग रहा होगा। दक्षिण-पूर्व में मथुरा राज्य की सीमा जेजाकभुक्ति (जिझौती) की पश्चिमी सीमा से तथा दक्षिण पश्चिम में मालव राज्य की उत्तरी सीमा से मिलती रही होगी। सातवीं सदी के बाद से मथुरा राज्य की सीमाएँ घटती गयीं इस का प्रधान कारण समीप के कन्नौज राज्य की उन्नति थी जिसमें, मथुरा तथा अन्य पड़ोसी राज्यों के बड़े भू-भाग सम्मिलित हो गये।

मथुरा के प्राचीन नाम- महु (थ) रा मथुरा स्त्री सूरसेन देश राजधान्याम्। दो महुराओं दक्खिन उत्तराय, आव. 4 अ. मथुरा नगरी सूरसेनाख्योदेशः प्र. 275 द्वार। आ.क.। विपा.। आ.म.। वृ.। आ.चू.। कृष्ण जन्म स्थाने, आवा। अ.स्था.।[4]

आदिपुराण में जिनसेनस्वामी द्वारा आदिनाथ के आदेश से जिन 52 देशों का इस भूतल पर निर्माण किया था उसमें यह देश भी, जो कालान्तर में सूरसेन देश के नाम से प्रसिद्ध हुआ, सम्मिलित है। इसकी राजधानी मथुरा[5] का भी उल्लेख है उसी समय निर्माण होने से इसकी गणना भारतवर्ष की आद्य नगरियों में की जाती है। पुन्नाटसंघी जिनसेन सूरिकृत 'हरिवंश' में उल्लिखित प्राचीन भारत के 18 महाराज्यों में भी सूरसेन राज्य की गणना है और उसकी राजधानी मथुरा बताई गयी है। यद्यपि 'भगवतीसूत्र' के प्रदेशों या जनपदों में सूरसेन देश या उसकी राजधानी मथुरा का उल्लेख नहीं है तथापि 'प्रज्ञापनासूत्र' की $25^1/_2$ आर्य देशों की सूची में वे सम्मिलित है "ज्ञाताधर्मकथासूत्र" में उल्लिखित नगरनामों में मथुरा और पाण्डव मथुरा दोनों के नाम मिलते है।" स्थानाङ्गसूत्र "वृत्ति सहित प्र. 453", "निशीथचूर्णि" आदि ग्रन्थों ने जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष की जिन दस महानगरियों या राजधानियों का उल्लेख है उनमें भी मथुरा का नाम है। दक्षिण भारत के दिगम्बराचार्यों ने अपने ग्रन्थों में पाण्ड्य देशान्तर्गत मथुरा या दक्षिण मथुरा से जिसे 'पाण्ड्य मथुरा' भी कहते हैं भेद करने के लिये इस नगर का उल्लेख प्रायः 'उत्तर मथुरा' नाम से किया गया है।[6] मथुरा की स्थिति मध्य देश के अन्तर्गत बतलाई गयी है जो मगध से स्थूल पर्यन्त तथा जैन मुनियों का निर्बाध विहार क्षेत्र था। 'मथुरापुरीकल्प' में जिनप्रभूसूरि ने

वर्णन किया है कि मथुरा नगर को धर्मतीर्थ बनाने का सौभाग्य सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्व के समय में ही हो गया था। मथुरा नगर 12 योजन दीर्घ और 9 योजन विस्तीर्ण थी। वह यमुना के जल से प्रक्षालित उत्तुंग प्राचीर से अलंकृत थी और असंख्य जिन मन्दिरों, देवालयों, धवल भवनों, वापी कूप, पुष्करणियों एवं हाट-बाजारों से सुशोभित थी। वहाँ अनेक चातुर्विध ब्राह्मण नित्य शास्त्र पाठ करते थे। महालक्ष्मी निर्मित श्री सुपार्श्व स्तूप-जो देव निर्मित कहा गया है यहीं था।[7]

शौर्यपुर-बटेश्वर : यदि चीनीं यात्री ह्वेगसांग द्वारा वर्णित शूरसेन जनपद की सीमा सही है।[8] तो इसके भीतर वैराट तथा अतरंजी जिलों का सम्पूर्ण मध्यवर्ती क्षेत्र सम्मिलित रहा होगा वरन् दक्षिण में आगरे से आगे नखा तथा शिवपूरी तक एवं पूर्व में सिन्ध नदी तक बहुत बड़ा क्षेत्र सम्मिलित रहा होगा। इसमें आगरा जनपद का बटेश्वर नामक धार्मिक क्षेत्र भी आ जाता है, जिसका पुराना नाम शौर्यपुर था। शौर्यपुर के महाराज शूरसेन ने मथुरा को अपने अनुज सुवीर को स्थापित किया और स्वयं शौरिपुरि या शौर्यपुर नगर की स्थापना की। अन्धकवृष्णि के दश पुत्र थे जिनमें सबसे बड़े समुद्र विजय थे और सबसे छोटे वसुदेव थे। इन्हीं समुद्र विजय की महादेवी की कुक्षि से 22वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ का जन्म हुआ था। वसुदेव देवकी ने श्रीकृष्ण को जन्म दिया। इस प्रकार नेमिनाथ व श्रीकृष्ण चचेरे भाई थे। श्रीकृष्ण के पूर्वजों व वंशजों के अनेक चिन्ह शौर्यपुर के आस-पास बतलाये जाते है जिनमें पदमखेड़ा और ओघखेड़ा कदाचित श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और अनुरुद्ध के नामों पर बसाये गये प्रतीत होते हैं।[9] इसका एक घाट 'कंसकगार' है जो कि कृष्ण के अत्याचारी मामा कंस के नाम से सम्बन्धित है। जैन और बौद्ध साहित्य में शौर्यपुर का नामोल्लेख उपलब्ध होता है। श्रीकृष्ण और बलराम के मध्य नेमिनाथ की प्रतिमाएँ मथुरा कला में कुषाण व गुप्तकाल की लेखरहित या लेखयुक्त आसीन अथवा कायोत्सर्ग मिलती हैं।

राज्य संग्रहालय लखनऊ में मध्यकालीन आगरा व बटेश्वर की महत्त्वपूर्ण मध्यकालीन प्रतिमाएँ आरक्षित हैं।[10] इस संकलन में काले पत्थर की संवत् 1063 की मुनिसुव्रत और दो अन्य श्वेताम्बर तीर्थङ्करों से युत प्रतिमा है। जिसके ऊपर ठीक मध्य भाग पर ताखे में नेमिनाथ तथा

बाहर चतुर्भुजी बलराम व श्रीकृष्ण सुशोभित है। यह कलाकृति यमुना की तलहटी आगरे किले के समीप में संग्रहालय लायी गयी वर्णित है।[11]

जम्बू स्वामी सिद्धक्षेत्र चौरासी

चौरासी प्राकृत नाम 'चउरासीई' है। ब्रज क्षेत्र में चौरासी वन थे जिनमें बहुत गहन और विशाल जम्बू वन जामुन का वन था। वर्णन है कि मथुरा जिले में तीन जैन मन्दिर प्रसिद्ध थे जिनमें प्रथम चौरासीय का मन्दिर जहाँ कार्तिक माह में अन्तिम सप्ताह में मेला लगता है। दो मन्दिर छठे तीर्थङ्कर पदम प्रभ को समर्पित तथा अन्य मन्दिर छाता तहसील कोशीकला में विद्यमान था।[12]

भगवान् महावीर के पश्चात् उनकी शिष्य-परम्परा में कैवल्यज्ञानी जम्बू स्वामी का मथुरा से विशेष सम्बन्ध रहा था। यद्यपि उनका जन्म बिहार की राजधानी राजगिरि में हुआ था तथापि 16 वर्ष की किशोर अवस्था में ही मुनि वेश धारण कर तपस्या के लिये मथुरा आ• गये। उन्होंने महावीर भगवान के पटु शिष्य सुधर्मा स्वामी से प्रव्रज्या ली थी। उसके उपरान्त वे बीस वर्ष तक मुनिव्रत धारण करने पर कैवल्यज्ञानी हुए थे। इनका निर्वाण अस्सी वर्ष की आयु में मथुरा के चौरासी नामक स्थल पर विक्रम पूर्व संवत् 408 अर्थात् 465 ईसा पूर्व में हुआ था। जैन धर्म में जम्बू स्वामी अन्तिम 'केवलि' माने जाते है। इनके तप और निर्वाण का पुण्यस्थल होने के कारण मथुरा नगर तभी से जैन धर्मावलम्बियों में 'सिद्धक्षेत्र' के नाम से प्रसिद्ध रहा है।[13]

चौरासी का जैन मन्दिर मथुरा के चौरासी नामक प्राचीन क्षेत्र मनी राम (खण्डेलवाल वैश्य और श्रावकी जैन) द्वारा निर्मित एक दिगम्बर भव्य जैन मन्दिर है। इसमें पहले श्री चन्द्रप्रभु की और बाद में अजितनाथ की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गयीं। ब्रज मण्डल में जैनधर्म का ये सबसे प्रसिद्ध केन्द्र है। जम्बू स्वामी के तप के प्रभाव से इसी नगर में विद्युत-चर और अंजनचोर नाम के महाभयंकर दस्यु एवं उनके पाँच सौ साथियों के जीवन में महान क्रान्ति घटित हुई। उन सब ने दस्यु वृत्ति का ही त्याग नहीं किया वरन् वे सब संसार छोड़कर साधु बन गये और मथुरा नगर के बाहर ही गहन जम्बू वन में दुर्द्धर तपश्चरण में लीन होकर घोर उत्सर्ग सहन करते हुए सद्गति को प्राप्त हुए और उनकी स्मृति में उक्त

स्थान पर पाँच सौ एक स्तूप बना दिये गये। वे स्तूप मध्यकाल तक अपनी जीर्ण क्षीण अवस्था में विद्यमान रहे बताये जाते है जैसा कि पाण्डे राज मल्ल और जिनदास के जम्बू स्वामी चरितों से सूचित होता है। लगभग दो वर्ष पूर्व पूजाई उपाध्याय ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से मन्दिर परिसर के सुरम्य स्थल पर एक भव्य मान स्तम्भ स्थापित हुआ है। चौरासी परिसर में ही भारतीय दिगम्बर जैन संघ का संघ भवन तथा एक विशाल सरस्वती भवन भी सुरक्षित है। यहाँ की कुछ कलाकृतियाँ राजकीय संग्रहालय मथुरा में सुशोभित हैं।

सप्तर्षिटीला : मुनिसुव्रत नाथ के समय यहाँ एक घटना घटी थी। उस समयावण का दामाद मथुरा का शासक था। एक दिन श्री नन्दन की चारणी नामक रानी से उत्पन्न सप्तर्षि[14] चातुर्यमासि प्रारम्भ होने से पूर्व आकाश मार्ग से मथुरा पधारे और नगर की समीप वृक्ष के नीचे वर्षा योग का नियम लेकर ठहरे। अयोध्या नरेश के सबसे छोटे भाई शत्रुहन को मथुरा का राज्य मिला था। नगर में महामारी और युद्ध के कारण मथुरानगरी का सौन्दर्य नष्ट हो गया था। महाराज शत्रुघ्न सप्त ऋषि के दर्शनार्थ अयोध्या से मथुरा पधारे। ऋषियों के तप के प्रभाव से युद्ध और महामारी का प्रकोप शान्त हो गया था। सप्त ऋषियों के उपदेश एवं प्रभाव से महाराज शत्रुहन और नगरवासियों ने मथुरा में अनेक जिन मन्दिर बनवाये, जिन प्रतिमाएँ स्थापित करायीं। उन्होंने सप्त ऋषियों की भी प्रतिमायें स्थापित करवायीं।[15] नगर का निर्माण नये सिर से तीन कोश फैला हुआ था। कालान्तर में वह मन्दिर विनष्ट हो गया और वहाँ टीला बन गया। वह स्थान सप्तऋषि टीला कहलाने लगा। आज यह टीला जमना पार स्थित है। यहीं से रंजबुल महिषी कम्बोजिका द्वारा स्थापित सिंह शीर्ष स्तम्भ मिला है जिसकी निचले हिस्से पर खरोष्टी लिपि में सर्वास्त वादिन बौद्ध सम्प्रदाय का लेख खुदा है। यह महत्त्वपूर्ण कलावशेष ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन की अक्षय निधि है।[16] इस अवशेष के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण सप्त ऋषि टीले के अन्य कोई पुरासामग्री उपलब्ध नही हुई है।

सपऊ ग्राम : मथुरा जनपद से 31 मील दक्षिण पूर्व में शादाबाद तहसील में यह ग्राम है।[17] यहाँ आधुनिक जैनिनाथ जी का मन्दिर है।

ये मन्दिर प्राचीन किले के अवशेषों के टीले पर है। यह तेरह बीघा क्षेत्र में फैला हुआ है। कई प्राचीन मूर्तियाँ और बड़े-बड़े कंकड़ के वास्तुखण्ड जहाँ-तहाँ बिखरे हुए हैं। जो प्राचीन जैन मन्दिर के अवशेष प्रतीत होते हैं। गाँव के सन्निकट मैदान में एक बड़ा चौकोर गुम्मज वास्तु कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जो किसी ठाकुर विधवा की सम्पत्ति बतलायी जाती है।

मथुरा में चार दिगम्बर जैन मन्दिर और एक चैत्यालय का भी उल्लेख मिलता है। घियामण्डी, गुरजन घीटी, जयसिंहपुरा में मन्दिर है तथा सेठ जी की हवेली में एक चैत्यालय है एक दिगम्बर जैन मन्दिर वृन्दावन में है। घियामण्डी में दिगम्बर जैन धर्मशाला भी है माता का मठ जेल टीला, शीतल घाटी, अर्जुनपुरा आदि मथुरा के विभिन्न थानों से लगभग ईसा पूर्व 300 से 200 ईस्वी तक की जैन कलाकृतियों और शिलालेख मिले हैं। मथुरा में आठवीं नवीं ईस्वी पर्यन्त कोई दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेद नहीं पड़ने पाया।

इन वर्णित स्थलों के अतिरिक्त राजकीय संग्रहालय मथुरा में कुछ अति विशिष्ट जैन कला कृतियाँ संग्रहीत हैं जो कंकाली क्षेत्र से इतर स्थानों की हैं जिनके वर्णन का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा हूँ[19]-

1. आयागपट्ट (48.3426) ये कुषाणकालीन आयागपट्ट का ऊपरी भाग है जिसमें मध्य में तीर्थङ्कर सुशोभित है। प्राप्त स्थान चौबिया पाड़ा, मथुरा। (दे.चि.1)
2. अभिलिखित आयाग पट्ट (क्यू-2) लवण शोमिका का वर्द्धमान पूजा से सम्बन्धित आयागपट्ट, मुकुन्द कुआ, होली गेट के बाहर, मथुरा (चित्र 2)
3. ऋषभदेव (बी-4) ध्यानस्थ वासुदेव सम्वत 84 की खण्डित प्रतिमा, बलभद्र कुण्ड मथुरा।
4. कायोत्सर्ग ऋषभनाथ (12.268) कन्धे पर लहराती लटें मुख का भाव सुन्दर, गुप्त लिपि लेख, कटरा टीला, मथुरा तथा कटराटीले की ही 50.3545 शीश रहित संवत् 1825 की जिन मूर्ति।

5. अरनाथ (18.1388) मीनमिथुन, गुप्त काल, ग्राम बजना, मथुरा।
6. पार्श्वनाथ (12.25) पूर्व मध्यकाल, बन्दी आनन्दी गाँव बल्देव मथुरा।
7. चन्द्रप्रभ (86.150) सिर रहित बैठी चन्द्रप्रभ की प्रतिमा जिसके नीचे अर्धचन्द्र का अंकन है मध्य काल, महावन 1, चित्र 3।
8. 23 तीर्थङ्करों युत शिलापट्ट (536) मध्य काल गुर्जरघाटी, मथुरा.
9. सर्वोतोभद्र (बी 72) कुषाणकाल इसे बीरभद्र के रूप में पूजा जाता था। महोली, मथुरा।
10. तीर्थङ्कर (बी-75) खण्डित पीत श्वेत मध्यकाल, पोतरा कुण्ड, मथुरा।
11. जिनमस्तक (बी 78) लाल प्रस्तर, कुषाण, भूतेश्वर टीला, मथुरा।
12. आदिनाथ (बी-76) बैठी प्रतिमा, की श्वेत, मध्य काल, पोतरा कुण्ड, मथुरा।
13. तीर्थङ्कर सुपार्श्व/पार्श्व (बी-26) कंकाली चौबारा के बीच ग्राउस महोदय के छय फिट नीचे खेत से खोद कर पाया था। मध्य काल, मथुरा।
14. लघुकाय पटिया (सं. 1578) दम्पत्ति पर्वत पर वृक्ष की नीचे बैठे है, वृक्ष पर एक तीर्थङ्कर विराजमान है। नीचे बाये हाथ में एक बालक को पकड़े है। चरन चौकी के नीचे सात लघुकाय आकृतियाँ अंजलि मुद्रा में, मध्यकाल, कटरा, मथुरा।
15. नैगमेश (संख्या 909) कन्धे पर बच्चे, कुषाण काल, पानी खेड़ा, मथुरा।
16. जैन देवता नैगमेष (ई 4) सूप में बाल को लिये। ये अजमुख है। मनोहरपुरा, मथुरा, ग्राउस महोदय ने इसे प्राप्त किया था। चित्र4.
17. अम्बिका (डी-7) ऊपर बलराम श्रीकृष्ण के मध्य नेमिनाथ, नीचे खण्डित अम्बिका, मध्य काल, चौरासी के निकट ईटों के भट्टे से प्राप्त, मथुरा। चित्र 5.
18. लघुकाय तीर्थङ्कर (डी-80) मध्य काल, सरस्वती कुण्ड, मथुरा।

19. ऋषभेदव (1260), कन्धे पर लटें मध्य काल, चौरासी, मथुरा।

20. सर्वोतोभद्र प्रतिमा (577) आदि और सुपार्श्व ही शेष मध्य काल, गोपाल खेड़ा, मथुरा।

20. तीर्थङ्कर (बी 79) काले पत्थर, मध्य काल, मथुरा दिल्ली मार्ग सरस्वती कुण्ड, मथुरा।

21. जिनकायोत्सर्ग (सं. 972, कुषाण, ब्राह्मी में लेख) बगीची ईसानपुर, मथुरा।

22. पार्श्वनाथ (सं. 18.1505) मध्यकाल, कोसीकला, छाता, मथुरा।

23. ऋषभनाथ (सं. 18.1504) मध्यकाल, बरसाना, मथुरा।

24. पार्श्व (सं. 33.2874) मध्यकाल, कगारौल, आगरा।

25. ऋषभनाथ (सं. 1207) वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ, मध्यकाल, मथुरा।

मथुरा नगरी का सम्बन्ध ऋषभ, अजित, सुपार्श्व, पद्मप्रभु, चन्द्रप्रभु, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ, पार्श्व एवं महावीर के साथ जम्बू कुमार और सप्तऋषियों से रहा प्रतीत होता है। शूरसेन जनपद में महावीर का सम० .रण आया था और उनके उपदेशों को सुनकर सेठी जिनदत्त के पुत्र अर्हद्दास मथुरा के नरेश उदितोदय (अथवा वामीदाम) उसके मन्त्री राज्याधिकारी व नागरिक महावीर के धर्मानुयायी बन गये।

अति संक्षेप में कंकाली से इतर जैनस्थल शौर्यपुर, जम्बू स्वामी तीर्थ क्षेत्र चौरासी, सप्तऋषि टीला और ग्राम सपऊ क्षेत्र है जो साहित्यिक, पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। लेकिन मथुरा संग्रहालय में जो कंकाली टीले से भिन्न क्षेत्रों से प्राप्त हुए कलावशेष है उनमें से कुछ का ऊपर वर्णन भी किया गया है। ये अभिलेखीय एवं प्रतिमा विज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

मथुरा में ऐसा है कि यदि एक स्थान से बौद्ध कला अवशेष अधिक मात्रा में मिलें हैं तो जैन और पौराणिक हिन्दू धर्म की कलाकृतियाँ भी उपलब्ध हुई हैं। इनकी संख्या भले ही कम हो। जैसे कंकाली टीले से जैन कलाकृतियाँ अधिक मात्रा में निकली तो उसके साथ ही बौद्ध उपगुप्त

विहार व जीव खण्ड दत्त विहार लेख युक्त तथा लेटी हुई बुद्ध प्रतिमा एक वास्तु खण्ड पर भी निकली। साथ ही पौराणिक गणेश की मूर्ति भी मिली। कटरा टीला में, जहाँ यश विहार और शक विहार लेख युक्त बौद्ध अवशेष तथा बौद्ध विहार में प्रयुक्त कलात्मक सिरदल मिले वहीं विष्णु मन्दिर के अवशेष के साथ ही अति सुन्दर कायोत्सर्ग मुद्रा में गुप्तकालीन ब्राह्मी में लेख युक्त ऋषभदेव व अन्य जैन प्रतिमायें भी मिलीं। सप्तर्षि टीले का साहित्यिक उल्लेख तो पद्मपुराण में मिलता है और एक महत्त्वपूर्ण अभिलिखित सिंह स्तम्भ खरोष्टी लिपि में महाराज रंजबुल की महिषी कम्बोजिका द्वारा 'सर्वास्तु वादिन' बौद्ध संघ के गुह विहार का उल्लेख करनेवाली कलाकृति तो मिली है लेकिन अन्य कोई सामग्री मिली हो मुझे ज्ञात नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि जमुना की बाढ़ से यहाँ की सामग्री नष्ट हो गयी हो अथवा पुराविदों की कुदालों से बाहर निकलने की प्रतीक्षा में जमीन के भीतर सिसकियाँ ले रही हों। सम्भव है चौबियापाड़ा, महोली, भूतेश्वर, कटरा, महावन, बलभद्र कुण्ड, कोतरा कुण्ड और बन्दी आनन्दी, बलदेव, सरस्वती कुण्ड, बजना, भी कभी महनीय जैन स्थल रहे हों। इति।

सन्दर्भ :

1. शर्मा, रमेश चन्द्र बुद्धिस्ट आर्ट ऑफ मथुरा, पृष्ठ 25, दिल्ली, 1983.
2. अवस्थी, अवध बिहारी लाल, प्राचीन भारतीय भूगोल,. पृष्ठ 35, लखनऊ 1972.
3. बाजपेयी, कृष्ण दत्त, मथुरा, उत्तर प्रदेश के सां. केन्द्र-2, पृष्ठ 1, लखनऊ 1955.
4. विजय राजेन्द्र सूरी, 'अभिधान राजेन्द्र' खण्ड 6, पृष्ठ 232 रतलमा 1934.
5. महापुराण पर्व 16, श्लोक 155.
6. जैन, ज्योति प्रसाद, जैन साहित्य में मथुरा, अनेकान्त, पृष्ठ 65-67, दिल्ली 1962.
7. जिनप्रभसूरि, विविधतीर्थकल्प में 'मथुरापुरीकल्प" सिंघी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क 10, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन, वि.सं. 1991.
8. ए. कनिंघम्, हिस्ट्री ऑफ दि ऐन.जा.ऑफ इण्डिया, अनु. जगदीशचन्द्र, पृष्ठ 253, प्रयाग 1971.

9. मीतलप्रभुदयाल. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास की भूमिका, पृष्ठ 14, मथुरा 1966.

10. राज्य संग्रहालय, लख.सं. जे. 776 व जे. 777 तथा जे. 786 से जे. 816ए संग्रहालय पंजी. भाग-3 अप्रकाशित.

11. रस्तोगी, शैलेन्द्र कुमार राज्य संग्र. लख. की जैन प्रतिमायें, पृष्ठ 160 शोध प्रबन्ध, अप्रकाशित.

12. जोशी इ.बी., मथुरा जनपद का गजेटियर, पृ. 910, लख. 1968.

13. बाजपेयी, कृष्णदत्त, ब्रज का इतिहास, खण्ड-2, पृ. 69.

14. सुरमन्यु, श्रीमन्यु, श्रीनिच, सर्वसुन्दर, जयवान, विमल आर सजल मित्र, पद्मपुराण, तृतीय भाग, पर्व 12 श्लोक 1-3, पृ. 176, भा. ज्ञानपीठ, काशी 1959.

15. सप्तर्षिप्रतिमाश्चापि काष्ठासुचतसृष्वपि अस्थापयान्मनोज्ञाङ्गा सर्वेति कूतिवारणा 1, रविषेणाचार्य पद्मपुराण भाग-3, पर्व 92, श्लोक बयासी, पृष्ठ 176-78, सम्पादक- जैन, पन्नालाल, भा.ज्ञा.पी., काशी 1959.

16. शर्मा, रमेशचन्द्र, बुद्धिस्ट आर्ट आफ मथुरा, पृ. 52-58 दिल्ली, 1983.

17. एफ्यूरर आर्कि.सर्वे. लिस्ट ऑफ एन.डब्ल्यू. प्रा. आगरा, मथुरा पृ. 110, इलाहाबाद 1891 एवं जोशी ई.वी. डिस्ट्रिक गजेटियर मथुरा, पृ. 345 लख. 1968.

18. वोगल (जे. कैटालाग ऑफ आर्कि.म्यु., मथुरा, पृ. 4-37, इला. 1910, व अग्रवाल वा.श. जैन तीर्थङ्कर और विविध मूर्तियाँ यू.पी.हि.शो., मथुरा म्यूजियम कैट. भाग 3-4, लखनऊ 1951; श्रीवास्तव बी.एन. और मिश्र एस.डी. इन्वेंटरी ऑफ आर्कि.म्यु. मथुरा, बुलेटिन ऑफ म्यू. एण्ड आर्कि. ब्लूम 11-12, पृष्ठ 17, लख. म्यू. 1973.

●

मथुरा के शिलालेखों एवं मूर्तिलेखों के सन्दर्भ में जैन समाज

क्रान्ति कुमार, सारनाथ
(सुश्री सुमन माथुर की सहायता के साथ)

इतिहास के पन्ने रोज ही बदलते हैं। कुछ ही एक प्रविष्टियाँ बाद में बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन जाती है, अधिकांश समय की धारा में डूब जाती हैं। आज के वातावरण में इनके महत्त्व का जाँच करना थोड़ा कठिन हो जाता है, जब तक हम अपने को उस वातावरण में पुनः न ले जायें। धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था भिन्न रूपेण होती है इसलिये यह समस्या है।

जैन धर्म में अवसर्पिनी[1] युग में 24 तीर्थङ्करों का मार्गदर्शन धर्मावलम्बियों को प्राप्त है। ईस्वी से 800 वर्ष पूर्व तक का इतिहास कुछ न कुछ ऐतिहासिक साक्ष्य के साथ तो मिल जाता है पर इससे पूर्व के इतिहास पर हमें केवल विश्वास और श्रद्धा का ही सहारा लेना पड़ता है। ऋषभनाथ से लेकर नेमीनाथ या अरिष्टिनेमी तक की मूर्तियाँ, कुछ की बाहुल्य में, कुछ की कम में, मिल जाती है पर इतिहास की दृष्टि से वो हमारा अधिक ज्ञानवर्द्धन नहीं कर पाती है। हम उनकी शिक्षा, एवं समाज द्वारा उनका स्वीकार्या जाना नहीं जान पा रहे हैं। हो सकता है मोहनजोदड़ों से प्राप्त अभिलेखों के अनूदित होने पर इन पर कुछ प्रकाश पड़े क्योंकि कुछ विद्वान् मानते है कि वहाँ से प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री में शायद ऋषभदेव की भी आकृति है।

इससे पहले की हम आगे बढ़े पहले तीर्थङ्कर शब्द की शास्त्रीय परिभाषा जान लें।[2] भगवतीसूत्र (20.8.15) में वर्णित आधार पर हेमचन्द्र ने पुस्तक 'योगशास्त्र' में लिखा है– "वो तीर्थङ्कर इसलिए है कि वो संसार-सागर का तरण करने में सहायता करते हैं अथवा, वो चर्तुवर्गीय (साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका) के रूप में तीर्थ की स्थापना करते हैं।"

यह ऋग्वेद (1.46.8) के वाक्य– 'तीर्थे सिन्धूंना रथः' से बिल्कुल मिलता-जुलता है। हम यह मानकर चलते हैं कि वैदिक धर्म, जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म, कम से कम, ई.पू. 800 एवं 500 से साथ साथ चली हैं एवं एक दूसरे का प्रभाव सब पर पड़ा है।[3] बहुत सी मान्यतायें सामान्य रही होंगी अथवा समय के प्रभाव से ऐसी बन गयी। यद्यपि बौद्ध-धर्म में स्वयं शाक्यमुणि ने मना किया था उनका रूप-चित्र बनाने को किन्तु समय ने बदल डाला। जैन धर्म में यह विवशता नहीं रही है। पर यह समझना होगा कि मूर्ति की आवश्यकता क्यों है। मार्गदर्शक के रूप में, उनसे सीख लेने हेतु उनके बताये रास्ते पर चलने से एवं मूर्ति से बारम्बार संस्मृत होते हुये अपने को संसार-सागर से तरण हेतु इन मूर्तियों की महत्ता बढ़ती गयी। शायद यह भी मानने में कोई दोष नहीं होगा कि गलतियों के पाश्चाताप के रूप में भी मूर्तियाँ बनी। स्वतः ही उन मूर्तियों पर दान देने वाले का नाम भी अंकित हुआ क्योंकि बहुत सी मूर्तियों पर प्रेरणा-स्रोत गुरु का नाम भी है।

मथुरा की मूर्तियाँ– आयागपट्ट विशेषकर कुशानकाल में बनी है जिन पर शिलालेख है। यह ईस्वी की पहली सदी का समय है। भारत में इस समय तन्त्र का प्रभाव व्याप्त होने लगा था और जैन विचारधारा भी अछूती नहीं रही थी। किन्तु अन्य तन्त्रों की भाँति ये पंचमकार में विश्वास नहीं करते थे। इनका विश्वास मंत्रयाण में अधिक था। यह माना जाता है कि दसवें 'पूर्व' में 'विद्यानुवाद' में पूरा मन्त्रयाण था। यह भी विश्वास है कि करीब इसी रूप में यह सब तीर्थङ्करों के समय में व्यवहृत होता था। किन्तु विद्यानुप्रवाद की मान्यता पार्श्वनाथ के समय (876बीसी-776बीसी) की है। यही अथर्ववेद का समय है।[4] मैंने आपका ध्यान इस ओर विशेष रूप से दिलाया है क्योंकि श्री भैरव पद्मावती कल्प कों भी तन्त्र का ही मानते हैं[5] एवं कंकाली टीला स्वयं ही जैन आगम में 64 योगिनियों में से एक योगिनी के नाम पर है।[6] आगे चलकर हम इसका प्रभाव देखेंगे

बूहलर (Buhler) के हिसाब से सबसे पहला जैन शिलालेख दूसरी सदी ई.पू. का मिला है जिसमें श्रावक उत्तरदाशक ने एक पासादातोरण (arch for the temple) समर्पित किया था। यह इस बात की

पुष्टि करता है कि कंकाली टीला के परिक्षेत्र में जैन मन्दिर 150 ई. पूर्व में विद्यमान था। शायद यही मन्दिर 'देव निर्मित स्तूप' था।[7] जैनाचार्य का नाम माधरक्षित है। डॉ. चैटर्जी का विचार है कि ये धर्मगुरु उन सात संतों में है जो साकेत से यहाँ धर्मप्रचार के लिये आये थे शायद उन्हीं के ही शिष्य होंगे। देव शब्द पर अनेक विचार है। सर मोनियर-विलियम्स ने अपने संस्कृत के कोष में 'देव' का अर्थ इस प्रकार दिया है। "Heavenly, divine (also said of terrestrial things of high excellence) Rv. Av. Vs....... (with Jains) the 22nd Arhat of the future Ut-sarpini; किन्तु अन्य मूर्ति शिलालेखों पर शब्द, देवपुत्र कनिष्क (शिलालेख लूडर्स संख्या 18), महाराजा राजातिराज देवपुत्र शाही कनिष्क (लूडर्स संख्या 21), मन्दिर के प्रतिष्ठापन ५., लेख ब्रिटिश म्यूजियम में, महाराजा देवपुत्र कनिष्क (लूडर्स संख्या 23) तथा सहेत-महेत में बोधिसत्व मूर्ति पर आलेखित महाराज देवपुत्र कनिष्क (EI. Vol.VIII, p. 180) तथा ब्राह्मी में आलेखित मथुरा में देवपुत्र शाही विष्क (EI. Vol. xxi, pp. 55ff) तथा धारगांव नाग मूर्ति पर आलेखित, महाराजा राजातिराज हविष्क (मथुरा म्यूजिमय (13) पर ध्यान जाता है। क्या देवनिर्मित शब्द राज्य प्रशासन द्वारा निर्माण की ओर इंगित करता है। क्योंकि कुशान राजाओं ने अनेक शहर, मन्दिर, स्तूप, चैत्य बनाये थे।[8] अंगुत्तर निकाय के अनुसार शाक्यमुनि बुद्ध मथुरा आये थे एवं पाली एवं जैन साहित्य के अनुसार मथुरा यक्षगणों से भरा हुआ था। विपाकसूत्र के हिसाब से यहाँ यक्ष सुदर्शन का मन्दिर था। अतएव जैन धर्म को यहाँ फलीभूत होने में वैष्णवों, शैव एवं बौद्ध धर्म के साथ एक तरह की टक्कर लेनी पड़ी होगी। इसका कारण हो सकता है जनमानस द्वारा जैन धर्म को स्वीकारा जाना। मथुरा उस समय के इतिहास में एक उन्नत प्रौद्योगिकी का केन्द्र था जैसा कि मथुरा-स्कूल ऑफ आर्ट की परम्परा से प्रतीत होता है। वाणिज्य का भी यह बड़ा केन्द्र था। यहाँ के वणिक वर्ग ने विशेषकर जैन धर्म को स्वीकारा था और शिलालेखों से यह प्रमाणित हो जाता है कि अधिकतर समर्पणकर्ता ब्राह्मण वर्ग के नहीं थे बल्कि अन्य वर्ग के थे। उनमें गणिका, लौहकार, सुगंधिका या क्षत्रिय-गोतिपुत्र के समान थे। एक आयागपट्ट पर इनकी पत्नी सिमित्रा अपने पति का वर्णन शक एवं पोथ्याओं के हनन-कर्ता के रूप में करती है। यह आयागपट्ट

अर्हत वर्धमान को समर्पित था। गणिकायें बड़े आदर की दृष्टि से इस समय देखी जाती थी। बौद्ध धर्म में वैद्य जीवक की माँ शालावति और अम्बपाली तो वर्णित हैं ही। गणिकाओं का रूझान गायन एवं संगीत को और कलाविद् की तरह था। मथुरा के इतिहास में भी रंगशाला, वाद्ययन्त्रों तथा संगीत का साक्ष्य है। लूडर्स की संख्या 100 में वर्णित शिलालेख के अनुसार इस आयागपट्ट का समर्पण नर्तक फगुयासा की पत्नि शिवयस ने किया था। कंकाली टीले से प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार कनिष्क के 5वें शासन वर्ष में एक वाचक (नाम मिटा हुआ है) ने अर्हत मूर्ति का समर्पण किया था। अतएव यह विश्वास करना होगा कि इस समय से पूर्व ही लेखन शैली प्रचलित थी एवं धार्मिक प्रवचन होने लगे थे। इसकी पुष्टि मिलती है। दो अभिलेखों से जो पहली शताब्दि के हैं। उनमें विशुद्ध संस्कृत के दो छंद (metres) के अभिलेख है (EI. Vol.Ii, p.200 & LHQXVI 485) जिसमें शार्दूलविक्रिडित छंद (metre) का प्रयोग किया गया है। काव्य का इतना उन्नत स्तर, जबकि तब संस्कृत राजव्यवहार में नहीं थी एक विलक्षणता को बताता है। जैन काव्यकारों एवं लेखकों द्वारा लिखित महाकाव्यों एवं अन्य ग्रन्थ जैन समाज में उच्च विद्या के द्योतक है। जबकि खारवेल से प्राप्त शिलालेख (हांथी गुम्फा की) प्राकृत से मिलती-जुलती में लिपिबद्ध है किन्तु मथुरा में, खारोस्ती, अधिकांश प्राकृत एवं ब्राह्मी के मिले हैं। मिलिन्दपह्वा में वर्णन है राजा के नामित का स्वर्ण कंधे के साथ। लूडर्स की 'अप्रकाशित शिलालेखों' का वर्णन है एक आयागपट्ट पर 'राजन् पितासा-जइसा' का जो उस समय की एक व्यवस्था का भी द्योतक है केवल कल्पना ही नहीं। समाज का निरूपण साहित्य एवं शिलालेख दोनों में मिलता है।

कुशान राज्य के समय में जैन समाज बौद्ध धर्मानुलम्बियों से अधिक बड़ा था। इसकी पुष्टि शिलालेखों की बाहुल्यता द्वारा प्रमाणित होती है। जैन मूर्तियों का आकार भी बौद्ध मूर्तियों से बड़ा है। लूडर्स की तालिका में 159 ब्राह्मी लेख है, जिनमें 87 जैन धर्म के है, 55 बौद्ध धर्म के तथा 17 अन्य। मथुरा में दो जैन मन्दिर और एक स्तूप के भी अवशेष प्राप्त हुये हैं। डॉ. लौहुजेन के अनुसार जैन ब्राह्मी शिलालेखों ने कुशाण राज्य के इतिहास पर विशेष प्रकाश डाला है। यही नहीं धार्मिक इतिहास पर भी प्रकाश पड़ा है। जैसे की लूडर्स संख्या-59 में एक महत्त्वपूर्ण

कलाकृति है जिसमें एक उच्चकोटि महिला को दो स्त्रियों के साथ दिखाया गया है। आलेख के अनुसार महाक्षत्रप सोड्स के शासन वर्ष 72 में 'अमोहिनी' द्वारा समर्पित किया गया। डॉ. वी.एम.अग्रवाल ने इसे रानी त्रिशला, वर्धमान महावीर की माँ की मानी है।[9] एक अत्यन्त सुन्दरी मूर्ति देवी सरस्वती की अभिलेखानुसार शक संवत 54 की (132 ईस्वी) मिली है। शायद यह देवी सरस्वती की प्रथम मूर्ति है। केवल मथुरा में ही नहीं अपितु प्रायः सम्पूर्ण भारत में जैन कलाकृतियों अभिलेखों के साथ मिलती है। हांथी गुफा का वर्णन पहले आ चुका है। तमिलनाडु में ई.पू. तीसरी सदी से तीसरी सदी ईस्वी तक के कुछ आलेख दक्षिण जिलों की गुफाओं में ब्राह्मी लिपि में तमिल भाषा में मिलते हैं। यह गुफायें जैन धर्म वालों की थी।[10]

मूर्तियों का विकास और उन्नतिकरण का एक कारण यह भी है कि तीर्थङ्करों की मूर्ति के साथ यक्षगण एवं यक्षिणियाँ भी दर्शित होने लगे तथा सम्बद्ध आभूषणीकरण भी बढ़ा। इससे जैन पारम्परिक गाथाओं के संवर्धन में सहायता मिली। और वे साहित्य से अलग होकर भी जीवित रहीं।

मथुरा से प्राप्त जैन मूर्तियाँ जिसके आधार पर हम चल रहे हैं वर्ष 5 से 84 तक की है। इनके अध्ययन से जैन दर्शन का भी रूप विकसित होता है। अनेक मूर्तियाँ ध्यानमुद्रा में है जिनका अध्ययन प्रो. सुश्री लाइझाइ ने किया है। इसके अलावा वर्ष 15 की जैन तीर्थङ्कर की खड़ी मूर्ति में चारों दिशाओं में जिन प्रतिमायें है जो कि प्रतिमा सर्वतोभद्रिका मुद्रा में हैं। इसे कुमारमित्र ने समर्पित किया था। इसी तरह की एक मूर्ति का समर्पण वर्ष 22 में स्थिरा ने किया था इन मूर्तियों में श्रीवत्स एवं चक्र के चिन्ह मौजूद है। इनके (pedestal) पर भक्ति दृश्य भी है तथा इन आकृतियों से यह भी मानना पड़ता है कि सम्भवतः ये दान/समर्पण कर्ता की थी। अब हम इन शिलालेखों के विश्लेषण की ओर चलते हैं। जिन मूर्तियों पर शिलालेख अंकित है उनसे हमें 'गण', 'कुल' एवं शखा की भी जानकारी होती है। कहीं-कहीं संभोग भी अंकित है। संभोग का अर्थ यहाँ विद्वानों ने भिक्षाटन की परिसिमित क्षेत्र को बताया है। आचारांग सूत्र (जैकोबी द्वारा अनूदित, पृष्ठ 62) में तथा भगवती में

(p.1766) 'गण' एवं 'कुल' का वर्णन है। भगवती में शाखा की जगह 'संघ' शब्द का व्यवहार हुआ है।[11] गण एवं कुल परम्परा का आधार धर्म विषय वस्तु (doctrinal) या गुरु (Preceptor) के आधार पर था।[12]

किन्तु सभी गणों कुलों में तीर्थङ्करों के प्रति श्रद्धा एवं आदर एक समान था। शिलालेखों से प्राप्त गण-कुल-शखा की पुष्टि कल्पसूत्र द्वारा होती है। यद्यपि कल्पसूत्र में 'नवगण' का वर्णन है परन्तु मथुरा में केवल चार के ही बारे में शिलालेखों द्वारा पुष्टि होती है, ये थे कोइका (Kottaka) वारण या चारण, एवं आर्य-उद्वेलित। वेसवादिया गण का अनुमान उसके कुल द्वारा होता है। इन 'गणों' के मुख्य 'गणीन्' वृहतवाचक रूप में थे और धर्म और दर्शन द्वारा मार्ग दिखाते थे। इनमें स्त्री एवं पुरुष दोनों ही थे। गण कुल का उद्भव महावीर स्वामी के निर्वाण के करीब 100-150 वर्ष बाद हुआ था अतेव मथुरा तक आते-आते विचारधारा परिपक्व हो गयी थी धार्मिकता की ओर।

अब हम चलते है देखने स्त्रियों अर्थात् तत्कालीन जैन समाज में सित्रयों की भूमिका। शिलालेखों में हमें दो रूप में ये दिखायी देती है। एक रूप है श्रमणी (nuns) के रूप में और दूसरा है श्रद्धाचारी या श्राविका के रूप में (lay devotee)। दूसरे रूप में उन्होंने घर का परित्याग तो नहीं किया था पर धर्म में आस्था अटूट थी। इनका महत्त्वपूर्ण कार्य था धार्मिक कार्यों के लिये धन-संग्रह और अन्य को भी इस प्रवृत्ति का बनाना। अनेक जैन (श्रमणियों) का वर्णन मिलता है जैसे वरण गण की सथीसीहा (75A.D.), धर्मघोषा (25B.C.), जिनदासी (125A.D.) एव आया जीवा (150B.C.)। आवश्यक निरुक्ति के अनुसार (c.350A.D.) जैन साधुवर्ग को इस शहर में दान पाने में कोई दिक्कत नहीं होती थी। शायद यह इन्हीं श्राविकाओं की देन थी

निष्कर्ष के रूप में मैं दो मुख्य विचारों को बताना चाहूँगा। पहला की इन शिलालेखों ने केवल शब्दों को ही अमरत्व नहीं दिया बल्कि साहित्य की उस कड़ी को टूटने नहीं दी जिससे हमें आज साहित्य का ऐतिहासिक प्रादुर्भाव कुछ अधिक सही रूप में बता पाते है। इन शिलालेखों में अंकित नाम, गण, कुल, शाखा एक सजीव चित्रण प्रस्तुत करते। समाज और धर्म का दायित्व कैसे निभाया जाता है इसकी भी प्रस्तुति

मिलती है। प्रतीत तो यह भी होता है कि आक्रमणकारियों के विनाश के कारण हम अभी भी पूरी सभ्यता से कुछ न कुछ वंचित है।

दूसरा एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि स्त्रियों को, जो कि करीब 90-95 प्रतिशत की संख्या में उभरती है, दानकर्ता या समर्पणकर्ता के रूप, एक विशेष (अधिकार) (empowerment) धार्मिक कृत्यों द्वारा मिला। उन्होंने धार्मिक परम्पराओं बनायी ही नहीं रखी बल्कि उनमें बदलाव भी नहीं आने दिया। शायद यही कारण है कि आज भी जैनधर्म कमोबेश रूप में उसी प्रकार की अच्छी स्थिति में जैसे दो हजार वर्ष पहले थी। इन्हीं स्त्रियों की सहभागिता से यह धर्म जीवित रहा जबकि समकालीन बौद्धधर्म भारत से विलुप्तप्राय हो गया था।

उन्होंने ही अर्हत् के स्वरूप

> **सर्वज्ञो जीतरागादिदोषस्त्रयै लोक्य पूजितः।**
> **यथास्थियतार्यवादी च देहीर्हन् परमेश्वरः।।**

को वास्तविक अर्थ प्रदान किया।

सन्दर्भ

1. Jain Rupa Mandana — Dr. U.P. Shah, pp. 81.
2. Tirthankar, Buddha Aur Avtarr — Dr. R.C. Gupta, pp. 32 (and other sources)
3. Studies in Jain Philosophy — Dr. Nathmal Tatia Foreword by Pt. Gopinath Kviraj, pp. xxiii.
4. Mantra Shastra — M.B. Jhavery, p. 149.
5. Ibid.
6. Selected Inscriptions — D.C. Sirear, Vol. I.
7. A Comprehensive history of Jianism — Dr. A.K. Chatterjee, pp.48.
8. Mathura Jaina Inscriptions of Kusana period — A fresh study, G.S.Hai, p. 1.
9. Guide book Provincial Museum, Dr. V.S. Agrawal, p. 5.
10. Corpus of Tamil Brahmi Inscriptions — Mahalevan (Seminar, Madras, 1966).
11. A Comprehensive history of Jainism, Dr. A.K. Chatterjee, p. 67.

●

मथुरा के प्राचीन जैन मुनियों की संघ-व्यवस्था*

स्व. डॉ. ज्योति प्रसाद जैन,
लखनऊ

जैनधर्म निवृत्ति प्रधान है। मुक्ति की साधना इसका ध्येय है। अतएव मुक्ति के साधक गृहत्यागी तपस्वी, श्रमण साधुओं और सम्भवतया साध्वियों की भी परम्परा इस धर्म के अनुयायियों में प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के समय से ही रहती आयी है। बीच-बीच में कभी-कभी मार्ग की व्युच्छित्ति भी हुई तो बाद में होने वाले अजितादि पार्श्व पर्यन्त तीर्थङ्करों ने अपने-अपने समय में उक्त मार्ग का पुनः प्रवर्तन किया। अन्तिम तीर्थङ्कर वर्द्धमान महावीर के समय में पार्श्व परम्परा के जैन साधु भी विद्यमान थे। भगवान् महावीर ने अपने अनुयायियों का, सम्भवतया सर्वप्रथम, चतुर्विध संघ (मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका) के रूप में सुव्यवस्थित संगठन किया। उनके ग्यारह गणधरों के आश्रय से निर्ग्रन्थ श्रमणों के ग्यारह गण गठित हुए। मुनियों के आचार-विचार के नियम (निर्ग्रन्थ चर्या) और उनके संघ की व्यवस्था से सम्बन्धित नियमोपनियम व्यवस्थित हुए तथा संघाचार्य, गणी, उपाध्याय, वाचकाचार्य, उच्चरणाचार्य, पृच्छकाचार्य आदि पद निश्चित हुए तथापि यह समस्त निर्ग्रन्थ संघ एक था, अविभक्त था, उसमें किसी प्रकार के समूहभेद या नामभेद नहीं थे।

महावीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध (लगभग ईसापूर्व 350) में अखण्ड जैनमुनिसंघ में सर्वप्रथम भेद उत्पन्न होने प्रारम्भ हुए। पहले आचार-विषयक भेद हुए, तदनन्तर कतिपय विचार भेद भी हुए।

---

*. जैन सन्देश : शोधांक-23, भाग 30, संख्या 21, दिनांक 25 अगस्त 1966 के अंक से साभार, प्रकाशक- श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा.

जैसे-जैसे मुनियों का विहार विस्तृत एवं देशव्यापी होता गया, उनकी संख्या भी बढ़ती गई और वे अनेक समूहों में बँटते गये। विभिन्न प्रदेशों के नवदीक्षित साधु प्रायः उन्हीं प्रदेशों में विचरने लगे। नये-नये केन्द्र उदय में आये और प्रत्येक के साथ किसी न किसी साधु-समूह या साधु-परम्परा का बहुत कुछ स्थायी सा सम्बन्ध रहने लगा। स्थानीय प्रभावों का भी असर होता ही था। इस प्रकार भिन्नताएँ और भेद बढ़ते ही गये। अन्ततः प्रथम शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध में अखिल जैन सङ्घ दिगम्बर, श्वेताम्बर, यापनीय आदि कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। इनमें से प्रथम दो तो शनैः शनैः स्थायी हो गये और उनमें से प्रत्येक के साधुसङ्घ में सङ्घ, गण, गच्छ, शाखा, कुल आदि अनेक भेद-प्रभेद रूप से धीरे-धीरे व्यवस्थित हो गये।

तथापि, 5वीं-6ठी शती ई. के पूर्व इन दोनों ही सम्प्रदायों में से किसी के भी साधुसङ्घ में उपरोक्त गण-गच्छादि प्रभेदों की विद्यमानता के ठोस ऐतिहासिक प्रमाण (शिलालेखीय अथवा तत्कालीन साहित्यिक) अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। केवल मथुरा का प्राचीन जैन मुनिसङ्घ ही ऐसा है जिसमें इस प्रकार के व्यवस्थित संगठन उसके कई सौ वर्ष पूर्व स्थित रहे सिद्ध होते है। उत्तर प्रदेश की यमुनातटवर्ती यह प्रसिद्ध प्राचीन नगरी, जिसका उल्लेख जैन साहित्य में बहुधा उत्तर मथुरा के नाम से हुआ है, चिरकाल पर्यन्त जैनधर्म और जैन संस्कृति का एक अति महत्त्वपूर्ण केन्द्र रही है। मौर्यकाल के प्रारम्भ से लेकर गुप्तकाल के अन्त पर्यन्त, लगभग एक सहस्र वर्ष का काल मथुरा के जैनसङ्घ का स्वर्णयुग था, और उसमें भी उसकी मध्यवर्ती तीन शताब्दियाँ (लगभग 100 ईसा पूर्व से सन् ई. 200 तक) उसका चरमोत्कर्ष काल था। साहित्यिक अनुश्रुतियों के अतिरिक्त, मथुरा नगर के विभिन्न भागों तथा उसके आस-पास के प्रदेश से पुरातात्विक शोध-खोज में विपुल सामग्री और उसमें भी विशेष रूप से वे बहुसंख्यक शिलालेख जो यहाँ मिले हैं, इस तथ्य के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

मथुरा से अब तक लगभग अढ़ाई सौ शिलालेख, मूर्तिलेखादि प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें से दो तिहाई के लगभग जैनों से सम्बन्धित हैं। इनमें 80 अभिलेख ऐसे हैं जिनमें विविक्षित धर्म कार्यों के प्रेरक साधु और

साध्वियों के नाम भी अङ्कित हैं। इस प्रकार उस काल में मथुरा में विचरने वाले लगभग 85 विभिन्न जैन मुनियों तथा 25 आर्यिकाओं के नाम प्राप्त होते हैं। साधु-साध्वियों के नामाङ्कित अभिलेखों में 65 ऐसे हैं जिनमें उक्त साधु-साध्वियों के गण, शाखा, कुल आदि का भी निर्देशहैं। इन लेखों में से 51 तिथियुक्त भी हैं, जिससे उनका काल भी प्रायः सुनिश्चित हो गया है।

जिन लेखों में केवल दान देने वाले श्रावक या श्राविका का ही उल्लेख है, वह इन अभिलेखों में सर्वाधिक प्राचीन मान्य किये जाते हैं और उनमें से अधिकतर सम्भवतया मौर्य-शुङ्ग काल (लगभग 300-100 ईसा पूर्व) से सम्बन्धित हैं। जिनमें साधु-साध्वियों के नाम तो हैं; किन्तु उनके गण, शाखा, कुल आदि का कोई उल्लेख नहीं है वे प्रायः ई. सन् के पूर्व और पश्चात् की दो शताब्दियों के अनुमान किये जाते हैं। प्रथम शती ई. के कुछ अभिलेखों में कहीं केवल 'गण' का, कहीं केवल 'कुल' का और कहीं मात्र 'शाखा' का उल्लेख भी पाया जाता है; किन्तु जिन लेखों में गण, शाखा और कुल, तीनों के ही स्पष्ट नाम साथ-साथ मिलते हैं, वे निश्चित रूप से कुषाणकालीन अर्थात् सम्राट् कनिष्क के चतुर्थ राज्य वर्ष (सन् 82 ई.) के उपरान्त के हैं।

इससे प्रतीत होता है कि उससे पूर्ववर्ती मथुरा के जैन साधुओं में गण, गच्छ, शाखा, कुल आदि का विशेष मोह नहीं था, शायद तब तक ये भेद-प्रभेद भली प्रकार व्यवस्थित भी नहीं हुए थे। वस्तुतः यह भेद मथुरा के प्राचीनतर जैन साधुओं की उदार एवं समन्वयात्मक विचारधारा के अनुकूल भी नहीं थे, भेद-भाव के ही पोषक थे। वे तो मात्र जैनसाधु-निर्ग्रन्थ श्रमण थे और मथुरा के थे। इस प्रत्यक्ष तथ्य की घोषणा करना भी निरर्थक था। भेद-भाव को प्रश्रम या प्रोत्साहन देने वाले दक्षिणी एवं पश्चिमी, दोनों ही दलों से वे पृथक् थे।

किन्तु जैसे-जैसे मथुरा में जैनधर्म का प्रभाव बढ़ता गया और उसका वहाँ उत्कर्ष होता गया उत्तर भारत के अन्य जैन केन्द्रों के साधुगण भी उसकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट होते गये और वे यहाँ आकर अपने-अपने अधिष्ठान वा केन्द्र भी स्थापित करने लगे। उच्चनगर, वरण (सम्भवतया वरन, जिसे उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर से चीन्हा जाता है।

इसी का एक भाग उच्चनगर भी कहलाता था। वस्तुतः उच्चनगर का उर्दू रूप ही बुलन्दशहर है), कोल (उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ का प्राचीन नाम-कोइल या कोल नाम का प्राचीन ग्राम अलीगढ़ के निकट अब भी विद्यमान है), अहिच्छत्रा (उत्तर प्रदेश के बरेली जिले में कस्बा रामनगर के आस-पास इसके भग्नावशेष विद्यमान हैं)। संकिषा (उत्तर प्रदेश के जिला फर्रुखाबाद के अन्तर्गत प्राचीन स्थल है) माध्यमिका (राजस्थान में चित्तौड़ के निकट नगरी नामक स्थान), हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश के जिला मेरठ में, जो अपने प्राचीन स्तूपों के लिये प्रसिद्ध था), ब्रजनगरी या वज्रनगरी (सम्भवतया ब्रजभूमि- मथुरा प्रदेश का ही कोई स्थान), राढ़ या राधा (बंगाल) इत्यादि से आकर मथुरा में स्थायी जो जाने वाले इन साधुओं को पृथक्-पृथक् चीन्हने के लिये उन्हें अथवा उनकी शिष्य-परम्परा को सम्भवतया उक्त स्थानों के नाम सहित पुकारा जाने लगा (जैसा कि इस देश में प्रायः सदैव से होता आया है– जैन मुनियों के ही पुन्नाट संघ, पुष्कर गच्छ, लाट-वागड़ गच्छ, कोल्लापुरीय, आदि तथा श्रीमाल, जायसवाल, खण्डेलवाल, अग्रवाल, ओसवाल, माथुर, कन्नौजिया, जुझौतिया, मेरठी, बरनी, इलाहाबादी, देहलवी आदि जातियों या व्यक्तियों के विशेषण)। शनैः शनैः मथुरा के इन साधुसंघों में ये नाम रूढ़ होने लगे और सम्भवतया उन सबसे स्वयं को भिन्न सूचित करने के लिये ठेठ मथुरा वाले साधुगण स्वयं को 'स्थानीयकुल' का कहने लगे।

प्रथम शताब्दी ई. के मध्य के उपरान्त इस भेदसूचक प्रवृत्ति ने अधिक बल पकड़ा दीखता है, जो अकारण नहीं था। इस समय के लगभग तक दक्षिणा पथ के जैनाचार्यों ने, जो स्वयं को भद्रबाहु श्रुतकेवलि की आम्नाय में हुआ मानते थे और अन्यों से भिन्नत्व प्रगट करने के लिये अपने आप को मूलसंघी कहने लगे थे, अपनी परम्परा में सुरक्षित आगमज्ञान के बहुभाग को पेज्जदोसपाहुड (कसायपाहुड), महाकम्मपयडिपाहुड (षट्खण्डागम), मूलाचार, कुन्दकुन्द प्रणीत पाहुड ग्रन्थों आदि के रूप में यथावत या साररूप संकलित एवं लिपिबद्ध कर लिया था। इस कार्य में सम्भवतया मथुरा का सरस्वती आन्दोलन भी पर्याप्त प्रेरक रहा था।[1] इसी समय के लगभग दक्षिणा पथ के संघाध्यक्ष आचार्य अर्हद्बलि ने वेण्या नदी के तट पर एक बृहत् मुनिसम्मेलन संयोजित किया और

उक्त अवसर पर उन्होंने समय की गति को देखकर उपरोक्त मूलसंघ को उन कतिपय उपसंघों में विभाजित होने की अनुमति दे दी थी जो कालान्तर में नन्दि, सेन, सिंह, देव, भद्र आदि नामों से विकसित एवं प्रसिद्ध हुए। मूलसंघ में यह उपसंघीकरण, चाहे बीज रूप में ही उस समय के कुछ पूर्व ही अस्तित्व में आ चुका होगा, तभी तो उक्त सम्मेलन में उसे मान्यता प्रदान की गई।

दक्षिणापथ के मुनियों के इन दोनों कार्यों (शास्त्र लेखन एवं संघ संगठन) का ही यह परिणाम हुआ प्रतीत होता है कि पश्चिमी एवं मध्य भारत के साधु दल ने, जो कि इस प्रकार आगम संकलन एवं लिपिबद्धीकरण का तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रणयन का भी विरोधी ही बना हुआ था और जिसका एक प्रमुख केन्द्र सौराष्ट्र का वलभी नगर बनता जा रहा था, वि.सं. 136 (सन् 79 ई.) में उक्त केन्द्र में स्वयं को दक्षिणी मुनिसंघ से पृथक् एवं स्वतन्त्र घोषित कर दिया। या तो उन्होंने स्वयं अथवा दक्षिणी साधुओं ने उन्हें प्रायः उसी काल से 'श्वेताम्बर' कहना प्रारम्भ कर दिया था।[2] सम्भवतया इसी की प्रतिक्रिया के रूप में महावीर निर्वाण सं. 609 (सन् 82 ई.) में दक्षिण के 'मूलसंघी' मुनियों ने भी, विशेषकर रथवीरपुर में स्वयं को श्वेताम्बरों से भिन्न सूचित करने के लिये दिगम्बराम्नायी घोषित कर दिया[3]- हो सकता है कि कथत श्वेताम्बर साधुओं ने ही उन्हें दिगम्बर कहना प्रारम्भ कर दिया हो।

इस समय कथित श्वेताम्बर संघ के नायक वज्रस्वामि के पट्टधर वज्रसेन थे जिनका निधन 93 ई. में हुआ। इन्हीं आचार्य वज्रसेन ने नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति एवं विद्याधर नामक चार उपसंघों की स्थापना की बतायी जाती है और कहा जाता है कि उनके शिष्य चन्द्रसूरि ने चन्द्रगच्छ की और प्रशिष्य सामन्तभद्र ने वनवासीगच्छ की स्थापना की थी। कतिपय पट्टावलियों से ध्वनित होता है कि शायद वज्रसेन के पूर्व भी, सम्भवतया शुंग-शक काल में, कुछ एक गणगच्छ स्थापित हो चुके थे, किन्तु किसी भी पट्टावली में उन पूर्ववर्ती गणगच्छादि की उत्पत्ति अथवा अस्तित्व और विकास का कोई इतिवृत्त या संक्षिप्त सूचनाएँ भी उपलब्ध नहीं होते। मथुरा के इन शिलालेखों में अवश्य ही उनमें से कुछ के नाम प्राप्त होते हैं।

वस्तुतः प्रथम शती ई. के उत्तरार्द्ध में जैन जगत् में घटित होने वाली पूर्वोक्त क्रान्तिकारी घटनाओं के प्रभाव से मथुरा के जैन साधु भी अछूते नहीं रह सकते थे। क्या आश्चर्य है जो उन्होंने भी अपने गण-शाखा-कुल आदि को उन नामों के आधार पर, जिन्हें वे सुविधा के लिये विशिष्ट केन्द्रों से आने वाले या गुरु विशेष की परम्परा में होने वाले साधुओं को चीन्हने ने लिये सौ-दो सौ वर्ष पूर्व से ही प्रयुक्त करना प्रारम्भ कर चुके थे, अब (प्रथम शती के उत्तरार्द्ध में ही) विधिवत् व्यवस्थित एवं संगठित किया हो।

मथुरा से प्राप्त अभिलेखों में तीन गणों- कोटिय, वारण और उद्देहकिय केश नौ शाखाओं- वइरी, उच्चैनगरी, विद्याधरी, मज्झमिका, हरितमालगढ़ीय, पंचनागरी, वज्रनागरी, सांकिष्य और पेतिपुत्रिका के; तथा चौदह कुलों- स्थानीय, ब्रह्मदासीय, चेटिय (चेतिय), वच्छलिका, संतिनिक, पेतिवामिक, हट्टिकिय, कन्यस्त या अय्यभ्यस्त, कन्यासिका, पुष्यमित्रीय, नाडिक, मेहिक, नागभूतिय और परिधासिका- के नाम उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त, दसवीं, ग्यारहवीं शती ई. के तीन मूर्ति लेखों में से एक में 'भोधायगच्छ' का और दो (981 ई. तथा 1077 ई. के) में 'श्वेताम्बर माथुर संघ' का उल्लेख हुआ है। सन् 1023 ई. में दिगम्बर आम्नाय की भी एक प्रतिमा सर्वतोभद्रिका यहाँ प्रतिष्ठित हुई थी, किन्तु उसमें किसी संघ-गण-गच्छ का उल्लेख नहीं है। उपरोक्त 'भोधायगच्छ' का श्वेताम्बर-परम्परा के 84 गच्छों अथवा दिगम्बर आम्नाय के अनेक संघ-गण-गच्छों में से किसी के साथ भी समीकरण नहीं बैठता। श्वेताम्बर माथुर संघ का भी उपर्युक्त दो मूर्तिलेखों को छोड़कर अन्यत्र कहीं कोई उल्लेख पाया गया नहीं जान पड़ता।

मध्यकाल में दिगम्बर आम्नाय में एक मुनिसंघ काष्ठासंघ के नाम से प्रसिद्ध रहा है और उसकी आम्नाय वर्तमान काल पर्यन्त चलती रही है। 13वीं शती ई. के उपरान्त के अनगिनत मूर्तिलेखों, यन्त्रलेखों एवं पट्टावलियों और साहित्यिक उल्लेखों से उसकी दो प्रमुख शाखाओं का अस्तित्व एवं विस्तार सिद्ध है। इनमें से एक काष्ठासंघ-माथुरगण-पूष्करगच्छ थी और दूसरी काष्ठासंघ-विद्यागण-नन्दीतटगच्छ थी। काष्ठासंघ और उसकी इन शाखाओं का प्रसार उत्तर भारत में ही सीमित

रहा है– बंगाल, बिहार से लेकर सौराष्ट्र गुजरात पर्यन्त। दक्षिण भारत में उसके कोई चिह्न नहीं मिले हैं। देवसेनकृत दर्शनसार के अनुसार 9वीं शती ई. के पूर्वार्द्ध में मुनि कुमारसेन ने काष्ठासंघ की स्थापना की थी। उसी ग्रन्थ के अनुसार काष्ठासंघ की स्थापना के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् कुमारसेन की ही शिष्य-परम्परा में होने वाले मुनि रामसेन ने माथुरसंघ की स्थापना की थी; किन्तु काष्ठासंघ की पट्टावलियों एवं परम्परा अनुश्रुतियों के अनुसार इस संघ की स्थापना ईस्वी सन् के प्रारम्भ के लगभग लोहाचार्य ने की थी। लोहाचार्य का बिहार क्षेत्र उत्तर भारत ही रहा है– अग्रोहा (पूर्वी पंजाब में हिसार के निकट अग्रोत्कान्वयी अग्रवालों का मूल स्थान) के अग्रवालों को जैनधर्म में दीक्षित करने का श्रेय उन्हें ही दिया जाता है। 11वीं से 13वीं, 14वीं शती तक के कई साहित्योल्लेखों से यह भी सिद्ध है कि उक्त काल में काष्ठासंघ के चार प्रसिद्ध गच्छ थे– माथुरगच्छ, नन्दीतटगच्छ, लाटवागटगच्छ और पुन्नाटगच्छ। इनमें से पुन्नाटगच्छ तो सम्भवतया काष्ठासंघ की दक्षिणी शाखा थी जो शनैः शनैः पुन्नाटसंघ में (जिसमें हरिवंशकार जिनसेन सूरि 783 ई. में हुए हैं) गर्भित हो गई और कालान्तर में उक्त पुन्नाटसंघ का भी सेनसंघ में अन्तर्भाव हो गया। लाटवागट (गुजरात एवं राजस्थान के बागड़– डूंगरपुर बांसवाड़ा प्रदेश में विचरने वाला) गच्छ उक्त प्रदेश में अति उत्कर्ष को प्राप्त होने वाले नन्दीसंघ-वलात्कारगण सरस्वतीगच्छ के प्रभाव से समाप्त प्रायः हो गया दीखता है। शेष दो का अन्तर्भाव काष्ठासंघ की उपरोक्त दोनों प्रसिद्ध शाखाओं में हो गया प्रतीत होता है।

बुन्देलखण्ड (विन्ध्यप्रदेश) के आहार आदि स्थानों से प्राप्त चन्देलजकालीन (9वीं-11वीं शती ई. के) कतिपय प्रतिमालेखों से उक्त काल एवं प्रदेश में दिगम्बर साधुओं के एक 'कटुकान्वय' का अस्तित्व सिद्ध होता है। काष्ठासंघ के प्राचीन प्राकृत-अपभ्रंश रूप काट्ठा, काट्ठा आदि उपलब्ध होते हैं। इसके मूल प्रवर्तक उत्तरापथवासी लोहाचार्य कहे जाते है और यह संघ तथा कटुकान्वय भी उत्तर भारत में ही सीमित रहे। दिगम्बर माथुर संघ का इसके साथ निकट सम्बन्ध रहा। उक्त दिगम्बर माथुर संघ के उल्लेख मथुरा के निकटवर्ती आगरा, त्रिभुवनगिरि (बयाना या श्रीपथ) आदि स्थानों में 11वीं-12वीं शती ई. से ही मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। आचार्य अमितगति (11वीं शती ई.) की गुरु-परम्परा भी

10वीं शती ई. के प्रारम्भ तक पहुँच जाती है और वह माथुर संघी थे। काष्ठासंघ का एक प्राचीन भेद-नन्दीतटगच्छ- जो कालान्तर में उसकी एक शाखा का उपभेद बना सम्भवतया मूलतः नदीतट गच्छ था और मथुरा के आस-पास यमुना तट के किसी स्थल का सूचक था। धीरे-धीरे तत्सम्बन्धी अनुश्रुति के विस्मृत हो जाने और कुन्दकुन्दान्वय के नन्दीसंघ के अनुकरण पर 'नदी तट' का 'नन्दी तट' बन गया। काष्ठा नाम का एक ग्राम मथुरा प्रदेश में भी है वस्तुतः पश्चिमी प्रदेश में इस नाम के कई ग्राम हैं। काष्ठासंघ की जिस शाखा में नदीतटगच्छ गर्भित हुआ उसी का गण विद्यागण रहा है, जिसका मथुरा के शिलालेखों की विद्याधरी शाखा से अद्भुत सादृश्य है। अतएव क्या आश्चर्य कि मथुरा के प्राचीन कोटियगण (जिसके पाठ भेद कीट्टिय, कोट्टिक आदि मिलते हैं) से ही मूलतः दिगम्बर काष्ठासंघ का निकास हुआ हो और उसका ही एक रूप कटुकान्वय रहा हो। मथुरा का स्थानीय कुल ही मथुरा से बाहर जाकर माथुर संघ माथुरगच्छ, नदीतटगच्छ आदि नामों से कालान्तर में विख्यात हो गया हो।

ऐसा लगता है कि गुप्तशासनकाल के उपरान्त दो-तीन शताब्दियों के लिये मथुरा में जैनधर्म की प्रायः व्युच्छित्ति सी हो गई, जैनों के संस्थान अस्त-व्यस्त हो गये, धर्मस्थान उपेक्षित हो गये, वहाँ की प्राचीन साधु-परम्परा प्रायः समाप्त हो गई और जैनों की बस्ती भी सम्भवतया अत्यन्त विरल हो गई। 9वीं शताब्दी के प्रारम्भ के लगभग आचार्य बप्पभट्टिसूरि ने इस क्षेत्र के उद्धार का कुछ प्रयत्न किया बताया जाता है- उनके भक्त राजा आम ने, जिसे गुर्जर प्रतिहार नागभट द्वितीय से चीन्हा जाता है, यहाँ एक नवीन जिनालय भी निर्माण किया बताया जाता है और 10वीं शती ई. के उत्तरार्द्ध में आचार्य सोमदेव सूरि अपने यशस्तिलकचम्पू में मथुरा तीर्थ और उसके प्राचीन 'देवनिर्मितस्तूप' का ऐसा वर्णन करते हैं कि जिससे लगता है यह केन्द्र उस समय पुनरुज्जीवित हो उठा था। विद्यमान अवशेषों की गवेषणा से पुरातत्त्वज्ञों का यह अनुमान भी है कि 10वीं शती में प्रायः उसी काल में निर्मित दो जिनालय- एक दिगम्बर आम्नाय का और दूसरा श्वेताम्बर आम्नाय का- उक्त प्राचीन स्तूप के अगल-बगल विद्यमान थे और उस स्तूप के अतिरिक्त उसी कंकालीटीला क्षेत्र में कम से कम दो अन्य प्राचीन जैन स्तूप भी विद्यमान

थे। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि 10वीं शताब्दी के मध्य के लगभग मथुरा में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं ने तीर्थ के पुनरुद्धार का सफल एवं सबल प्रयत्न किया था। यह कहना कठिन है कि किसने किसका अनुकरण किया- सम्भव है कि दोनों ने सहयोग और सद्भावपूर्वक ही यह तीर्थोद्धार किया हो, और इसी उपलक्ष में उक्त कार्य का नेतृत्व करने वाले उभय सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपना-अपना माथुरसंघ स्थापित किया हो। मथुरा की प्राचीन साधु-परम्परा समाप्त हो ही चुकी थी और यह दोनों ही उसे समान रूप से अपना रहे थे। वस्तुतः मथुरा में इसके पूर्व दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद कहीं लक्षित ही नहीं होता; किन्तु जब मथुरा की उस काल से पूर्व की सभी जिन प्रतिमायें- लेखांकित अथवा लेखरहित दोनों ही प्रकार की-पूर्णतया दिगम्बर है, उन अभिलेखों में उल्लिखित गण-शाखा-कुल आदि में से अनेकों का उल्लेख श्वेताम्बर अनुश्रुतियों में तो प्राप्त होता है किसी दिगम्बर ग्रन्थ में अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

श्वेताम्बर-परम्परा की पट्टावलियों-गुर्वावलियों आदि में कल्पसूत्र थेरावलि और नन्दीसूत्र पट्टावली ही सर्वप्राचीन मानी जाती हैं। इन दोनों के मूल रचयिता श्वेताम्बर परम्परासम्मत आगमों के संकलन एवं पुस्तकारूढ़ कर्त्ता देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण (453-466 ई.) बताये जाते हैं। कतिपय निर्युक्तियों (छठी शती ई.), वसुदेवहिण्डि (6ठी-7वीं शती), हरिभद्रीय विशेषावश्यकभाष्य (8वीं शती), भद्रेश्वरकृत कथावली (11वीं शती) और हेमचन्द्राचार्यरचित परिशिष्टपर्व (12वीं शती) में उक्त दोनों पट्टावलियों में उल्लिखित पुरातन गुरुओं के सम्बन्ध में अनेक अतिरिक्त सूचनाएँ एवं कथाएँ पायी जाती हैं। 13वीं से लेकर 19वीं शती पर्यन्त रची गई जो दर्जनों पट्टावलियाँ आज उपलब्ध है उनमें महावीर निर्वाण से लेकर आगमों की संकलना तक, लगभग 1000 वर्ष के बीच होने वाले श्वेताम्बर-परम्परासम्मत गुरुओं के विवरण उपरोक्त सामग्री के आधार पर ही निबद्ध हुए हैं। पूर्वोक्त दोनों प्राचीनतम कहीं जाने वाली पट्टावलियों की प्राचीनतम उपलब्ध प्रतियाँ भी 12वीं शती से पूर्व की कोई नहीं मिलती। अतएव प्रतियों के आधार पर उनके मूलपाठ की वास्तविकता एवं प्राचीनता निश्चित करना भी सहज नहीं है। सम्भव है कि देवर्द्धिगणी के उपरान्त भी उनमें अनेक संशोधन, संवर्धन, परिवर्तन आदि हुए हों।

इन दोनों में से भी- जिस रूप में वे वर्तमान में उपलब्ध हैं- नन्दीसूत्र की पट्टावलि में गण-शाखा-कुलों का कोई उल्लेख ही नहीं है। कल्पसूत्र-थेरावलि के दो संस्करण प्राप्त है जिनमें से एक 'संक्षिप्त वाचना' और दूसरा 'विस्तार वाचना' कहलाता हैं। संक्षिप्त वांचना में अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के 11 गणधरों के नाम एवं गोत्र और तदनन्तर सुधर्माचार्य से लेकर आर्य वज्रसेन पर्यन्त 15 थेरों के नाम तथा गोत्र अनुक्रम से दिये हैं। उनमें 9वें नम्बर पर आर्य सुहस्ति के शिष्य-युगल, सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध का नाम दिया है और उनका समुच्चय विशेषण 'कोडिय काकंदण' बताया है। इन दोनों का थेरपद संयुक्त रहा प्रतीत होता है। अन्तिम थेर वज्रसेन के चार शिष्यों- नाइल, पोमिल, जयन्त और तापस- से क्रमशः नाइली, पौमिला, जयन्ती और तापसी नामक शाखाओं के चल निकलने का निर्देशन करके यह थेरावलि समाप्त हो जाती है।

'विस्तार वांचना' में उपरोक्त 15 थेरों के सम्बन्ध में 'संक्षिप्त वांचना' की अपेक्षा कहीं-कहीं क्रमभेद भी है, कतिपय तथ्यान्तर भी हैं और अनेक अतिरिक्त सूचनाएँ हैं जिनमें से गणों, शाखाओं एवं कुलों की उत्पत्ति विषयक विवरण प्रस्तुत प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय है।

इस विस्तार वांचना के अनुसार भगवान् महावीर की शिष्य-परम्परा में क्रमशः गौतम, सुधर्मा, जम्बु, प्रभव स्वयंभव और यशोभद्र हुए। यशोभद्र के पश्चात् भद्रबाहु (श्रुतकेवलि) हुए और पश्चात् सम्भूतविजय, किन्तु संक्षिप्त वांचना के अनुसार संभूतविजय पहले हुए और उनके पश्चात् भद्रबाहु। विस्तार वांचना में भद्रबाहु के चार शिष्यों- गोदास, अग्निदत्त, यज्ञदत्त और सोमदत्त का भी उल्लेख है जिनमें से गोदास को गोदासगण का संस्थापक बताया है और उस गण की चार शाखाओं ताम्रलिप्तिया, कोटिवर्षीया, पुण्ड्रवर्धनीया एवं दासी खबडियाका भी उल्लेख हुआ है जबकि संक्षिप्त वांचना में सम्भूतविजय के केवल एक शिष्य, स्थूलभद्र का उल्लेख है, विस्तार वांचना में उनके बारह शिष्य (जिनमें स्थूलभद्र का आठवाँ नम्बर है) और सात शिष्याएँ रही बताई है। उसमें स्थूलभद्र के प्रथम शिष्य महागिरि के भी आठ शिष्य बताये हैं। इनमें से प्रथम दो शिष्यों- उत्तर एवं बलिस्सह- से संयुक्त रूप में उत्तरबलिस्सह गण

के निकलने की सूचना है और उक्त गण की कोसम्बिया, सेइतिया, कोडंबाणी और चन्दनागरी नामक चार शाखाओं का उल्लेख हुआ है। महागिरि के अन्तिम शिष्य चालुगरोहगुत्त से तेरासिया गच्छ निकला बताया है। स्थूलभद्र के दूसरे शिष्य सुहस्ति के बारह शिष्य बताये हैं जिनमें से प्रथम शिष्य रोहण को उद्देहगण का संस्थापक बताया है और इस गण की उदुंबरिजिया, मासपूरिआ, मइपत्तिया और पुण्णपत्तिआ (पण्णपत्तिआ) नामक चार शाखाएँ तथा नागभूतिय, सोमभूतिय, उल्लगच्छ, हत्थलिज्ज, नन्दिज एवं परिहासय नामक छः कुलों का उल्लेख हुआ है। सुहस्ति के दूसरे शिष्य जसभद्द से उडुबाडिय गण और उस गण की चंपिजिया, भद्दिजिया, काकन्दिया एवं मेहलिजिया नामक 4 शाखाओं तथा भद्दजसिय, भद्दगुत्तिय और जसभद्द नाम के 3 कुलों के निकलने की सूचना दी है। चौथे शिष्य कामिड्डि से वेसवाडियगण के तथा उस गण की सावत्थिआ, रजपालिआ, अन्तरिजिया एवं खेमिलजिया नामक 4 शाखाओं तथा गणिय, मेहिय, कामड्डिअ तथा इन्दपुरग नाम के 4 कुलों के निकलने का उल्लेख हुआ है। सुहस्ति के 5वें और छठे शिष्य सुस्थित और सुप्रतिबद्ध थे जो कोडिय-काकन्दक कहलाते थे और संयुक्त रूप से कोडिय-गण के संस्थापक थे जिसकी उच्चानागरी, विजाहरी, वइरी और मज्झिमिल्ला नाम की 4 शाखाएँ तथा बंभलिज्ज, वत्थलिज्ज, वाणिज्ज एवं पण्हवाहणय नाम के 4 कुल विकसित हुए। नौवें शिष्य ऋषिगुप्त से माणवगण और उसकी कासवज्जिया, गोयमज्जिया, वासिट्ठिया एवं सोरट्ठिया नाम की 4 शाखाएँ तथा भृषिगुप्ति, भृषिदत्ति और अभिजयन्त नाम के 3 कुल निकले और सुहस्ति के 10वें शिष्य श्रीगुप्त से चार णमण तथा उसकी हरियमालागारी, संकासिया, गवेधुया एवं वज्जनागरी नामक शाखाओं तथा वत्थलिज्ज पीइधम्मिअ, हालिज्ज, पूसमितिज्ज, मालिज्ज, अजवेडय और कण्हसह नामक 7 कुल निकले बताये हैं। सुहस्ति के इन शिष्यों में से सुस्थित एवं सुप्रतिबद्ध के संयुक्त रूप से 5 शिष्य थे, जिनमें से द्वितीय शिष्य प्रिय ग्रन्थ से मज्झिमा शाखा और तृतीय शिष्य विद्याधर गोपाल से विद्याधरी शाखा निकली बताई है। सुस्थित-सुप्रतिबद्ध के प्रथम शिष्य इन्द्रदिन्न थे जिनके शिष्य आर्यदिन्न हुए। इन आर्यदिन्न के प्रथम शिष्य संतिसेण से उच्चानागरी शाखा निकली बतायी है। संतिसेण के भी चार शिष्य थे जिनसे क्रमशः

सेनीया, तापसी, कुबेरा एवं ऋषिपालिया नामक शाखाओं की उत्पत्ति हुई बताई है। आर्यदिन्न के द्वितीय शिष्य सिंहगिरि थे जिनके स्वयं के चार शिष्य थे- धनगिरि, अज्जवइर, अज्जसामि और अरिहदिन्न। इनमें से अज्जवइर से अज्जवइरी और अज्जसामि से बंभदीविया शाखाएँ निकलीं। अज्जवइर के भी तीन शिष्य थे जिनमें से क्रमशः वज्रसेन से नाइली, पद्म से पद्मा और आर्यरथ से जयन्ती नाम की शाखाएँ निकलीं। इसके उपरान्त 15वें थेर आर्यरथ से लेकर 33वें थेर शाण्डिल्ल पर्यन्त अनुक्रम से नाम दिये हैं- उनमें से किसी से भी किसी गण, शाखा या कुल की उत्पत्ति का निर्देश नहीं है।

जैसाकि डॉ. जैकोबी ने थेरावलियों के परीक्षण एवं निन्हवों से सम्बन्धित अनुश्रुतियों की जाँच से निष्कर्ष निकाला है कि इन थेरावलियों में गुरुक्रम एवं कालक्रम की भारी गड़बड़ें प्रतीत होती हैं तथा पट्टक्रमों में अनेक थेरों के नाम भी छूट गये प्रतीत होते हैं। दोनों थेरावलियों में तद्गत तथ्यों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण मतभेद भी हैं, यथा नाइली शाखा की उत्पत्ति सम्बन्धी मत। यह सम्भव है कि संक्षिप्त वांचना देवर्द्धिगणि द्वारा रचित अपने मूल रूप में बहुत कुछ सुरक्षित रहती आयी हो, किन्तु विस्तार वांचना तो सम्भव है उसके कई सौ वर्ष बाद निबद्ध हुई हो और तदनन्तर भी समय-समय पर उसमें परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि किये जाते रहे हों। इस पट्टावली में जिन 8 गणों (तेरासिया गच्छ को छोड़कर) 32 शाखाओं और 20 कुलों का भद्रबाहु (वी.नि.सं. 170) तथा वज्रसेन (वी.नि.सं. 620) के बीच लगभग 450 वर्षों में उदय में आने का उल्लेख है, उनमें से अधिकांश का कोई उल्लेख शिलालेखों, मूर्तिलेखों अथवा सम-सामयिक साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। थेरावली की इस विस्तार वांचना तथा उसके आधार पर उसके कई सौ वर्ष पीछे रची गई कतिपय पट्टावलियों आदि के अतिरिक्त उन गणशाखाकुलादि के अस्तित्व का अन्य कोई प्रमाण नहीं है। एक बात और है कि उक्त गणों की स्थापना तो महागिरि और सुहस्ति तथा उनके शिष्यों एवं प्रशिष्यों के समय तक ही हो चुकी बतायी गयी है; किन्तु उक्त गणों की शाखाएँ एवं कुल तो 14वें-15वें थेरों के समय तक (प्रथम शती ई. के उत्तरार्द्ध तक) व्यवस्थित हुए, यथा सुहस्ति के शिष्यों द्वारा स्थापित कोटिय एवं चारणगण की उच्चैनागरी, विद्याधरी, बम्भदीविया आदि शाखाओं का

उदय आर्यवज्र (मृत्यु तिथि वी.नि.सं. 584) के समय में हुआ बताया जाता है। इन शाखाओं के संगठित होने और कुलों में उनका विकास होने में पर्याप्त समय लगा होगा; किन्तु प्रायः उसी काल से मथुरा के शिलालेखों में इन शाखाओं का अपने गणों एवं कुलों सहित उल्लेख भी पाया जाने लगा है?

मथुरा के शिलालेखों में प्राप्त कोटिय (पाठान्तर कोट्टिक, कोटिय, जिन्हें प्रो. लूडर ने संशोधित करके कोल्लिय, कोलिय या कोलेय स्थिर किया था) गण को थेरावलि के कोडियगण से चीन्हा जा सकता है, और वह इस कारण से और भी क्योंकि इस गण की शिलालेखों में उपलब्ध वेरी, उच्चैनागरी, विद्याधरी एवं मज्झमिका शाखाओं का थेरावली में उल्लिखित कोडियगण की चारों शाखाओं से अद्‌भुत नामसादृश्य है। इसी प्रकार शिलालेखों के वच्छलिका कुल की थेरावलि के वत्थलिज कुल में, शिलालेख के उद्देहिक या देहिक गण और उसकी पेतिपुत्रिका शाखा तथा परिधासिका एवं नागभूतिय कुलों को थेरावलि के उद्देहगण तथा उसकी पण्णपत्तिआ शाखाऔर नागभूय एवं परिहासय कुलों में चीन्हा जा सकता है। शिलालेखों में तीसरा गण अय्यवरन, वरन, वारन, वारण रूपों में मिलता है। लगभग एक दर्जन शिलालेखों में यह नाम प्राप्त होता है; किन्तु 'चारण' रूप में कहीं भी उपलब्ध नहीं हुआ जबकि थेरावली में 'चारण' रूप ही मिलता है। तथापि उक्त वारणगण की वज्रनागरी एवं सांकिष्य शाखाओं तथा पुष्यमित्रीय कुल को थेरावलि के चारणगण की वज्जनागरी एवं संकासिआ शाखाओं और पुसमित्तिज्ज कुल में चीन्हा जा सकता है। शिलालेख के ब्रह्मदासिय कुल का समीकरण भी थेरावलिं के बंभदीविय कुल अथवा बंभलिज कुल के साथ हो सकता है। इसी प्रकार शिलालेख के हट्टिकिय, पेतिवामिक और कन्यासिका नामक कुलों को थेरावलि के हालिज्ज, पीइधम्मिय और कण्हसह नामक कुलों में कदाचित् चीन्हा जा सकता है।

किन्तु शिलालेखों में प्रति पंचनागरी शाखा और सन्तनिक, स्थानीय (थानिय या ठाणिय), चेटिय, नाडिक एवं अय्यभ्यिस्त नाम के कुलों का थेरावलि में कहीं पता नहीं चलता और जबकि शिलालेख से हस्तिमालागढ़ीय शाखा कोट्टिय गण की एक शाखा सिद्ध होती है थेरावलि

में वह चारण गण की बताई गई है। मेहिक (या मेथिक) कुल की भी थेरावलि में कोट्टियगणका कुल न बताकर वेसवाडियगण का एक कुल बताया गया है। थेरावलि के अनुसार कोडियगण की स्थापना सुस्थित-सुप्रतिबद्ध ने की थी और सम्भवतया इस नाम का आधार उक्त थेरों का कोडियकाकन्दक विशेषण था। उत्तरकालीन पट्टावलियों में सुस्थित और सुप्रतिबद्ध का कहीं-कहीं दो पूर्वा पर गुरुओं के रूप में उल्लेख किया हैतो कहीं सुस्थित-सुप्रतिबद्ध पूरा नाम एक ही गुरु का रहा सूचित किया है, और सर्वत्र यही प्रतिपादित किया है कि क्योंकि उन्होंने सूरिमन्त्र का एक कोटि जाप्य किया था अतः उनसे निकलने वाला गण कोडिय या कोटिय कहलाया। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह पट्टावलीकारों की कोरी कल्पना ही है। शिलालेखों और थेरावलि, दोनों से ही सिद्ध है कि जो गण-शाखा-कुल स्थापित हुए या स्थापित हुए बताये जाते हैं वे विभिन्न प्रदेशों, क्षेत्रों, प्रसिद्ध केन्द्रों अथवा नगरों के नाम पर, सम्भवतया कतिपय प्रतिष्ठित संस्थानों या अधिष्ठानों के नाम पर तथा कभी-कभी प्रमुख गुरुओं या उनके गोत्रों अथवा अन्य किसी धार्मिक प्रतीक के आधार पर ही नामांकित हुए।

शिलालेखों में उल्लिखित कुलों में सबसे अधिक (14 बार) उल्लेख 'स्थानीय कुल' का हुआ है जो मथुरा का अपना स्थानीय या माथुरक कुल था यद्यपि थेरावलि में उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। कोटिय नाम भी स्थान सूचक ही प्रतीत होता है– कोड 'कोल' कोटिवर्ष, कोटिकदंब या कोटिककाकन्द नामक किसी स्थान से इसके संस्थापकों का सम्बन्ध रहा होगा। शिलालेख में 38 बार इस गण का उल्लेख हुआ है, जबकि वारणगण का 12 बार और उद्देहकिय गण का 2 बार। शाखाओं में उच्चैनागरी शाखा का 15 शिलालेखों में, वइरी शाखा का 14 में, वज्रनागरी शाखा का 5 में और शेष 6 शाखाओं का एक-एक में उल्लेख हुआ है। विद्याधरी शाखा का तो प्रथम बार एक गुप्तकालीन (5वीं शती ई. के) शिलालेख में ही दर्शन होता है–उसके साथ कोटियगण का भी उल्लेख है। कुलों में स्थानीय कुल का 14 बार, ब्रह्मदासिय कुल का 12 बार, वच्छलिका, हट्टिकिय और पेतिवामिका कुलों का तीन-तीन बार, अय्यभ्यिस्त कुल का दो बार और शेष आठ कुलों का एक-एक बार उल्लेख हुआ है।

कल्पसूत्र थेरावलि (और उसके आधार पर निबद्ध की गई मध्यकालीन पट्टावलियों) के तथा शिलालेखों के बीच गण-शाखा-कुल सम्बन्धी जो अन्तर ऊपर निर्देशित किये गये हैं वह महत्त्वपूर्ण है। इस विषय में शिलालेख ही अधिक प्रामाणिक एवं यथार्थ वस्तुस्थिति के परिचायक हैं, इस तथ्य में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। अब जहाँ तक थेरावलि शिलालेखों से समर्थित होती है वहाँ तक वह प्रामाणिक अनुश्रुतियों का संकलन सिद्ध हो सकती है, किन्तु जिन अंशों में यह शिलालेखों से विरोध वा अन्तर प्रदर्शित करती है उन अंशों में वह यह मानने के लिये विवश कर देती है कि उसमें जो कुछ लिखा है वह सब ही ठीक नहीं है और यह कि वह यथार्थ एवं अयथार्थ, दोनों का मिश्रण है। ऐसा प्रतीत होता है कि पांचवीं शती ईस्वी के उत्तरार्द्ध में जब देवर्द्धिगणि ने श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों को संकलित एवं लिपिबद्ध किया तो उन्होंने जैसी कुछ सुनी सुनाई सूचनाएँ अपनी परम्परा के पूर्वज थेरों से सम्बन्धित प्राप्त हुई उन्हें भी उन्होंने संक्षिप्त वांचना के रूप में संकलित कर दिया। स्वयं आगमों के संकलन के प्रश्न पर भी संघभेद (79 या 81 ई.) के उपरान्त और देवर्द्धि के पूर्व मथुरा और वल्लभी में दो श्वेताम्बर साधु सम्मेलन और हो चुके थे तथा आगमों के रूप एवं विषय सम्बन्धी मतभेदों के कारण वे विफल-प्रयत्न रहे थे। देवर्द्धि के समय में भी पर्याप्त मतभेद थे; किन्तु उन्होंने उन मतभेदों की परवाह न करके आगमों को पुस्तकारूढ़ कर ही दिया। उसके उपरान्त 6ठी शती ई. में आगमों पर निर्युक्तियाँ रची गई और आगामी तीन शताब्दियों में चूर्णियाँ, भाष्य टीकाएँ आदि भी बन गई। ऐसा लगता है कि तभी 9वीं-1.वीं शती में, देवर्द्धिगणि की संक्षिप्त वांचना को भी विकसित करके 'विस्तार वांचना' की रचना की गई। उसमें उत्तरापथ के सभी जैन साधुसंघों की गण-गच्छादि से सम्बन्धित अनुश्रुतियों को समाविष्ट कर लेने का प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है।

मथुरा का जैनसंघ गुप्तकाल में भी सचेतन एवं सबल था और उसके कम से कम कोटियगण एवं विद्याधरी शाखा की तत्कालीन विद्यमानता का तो शिलालेखीय प्रमाण भी हैं। उसी काल में होने वाले देवर्द्धिगणि द्वारा संक्षिप्त वांचना में उक्त गण और शाखा का तथा मथुरा के संघका कोई उल्लेख न होना तो यही संकेत करता है कि तब तक श्वेताम्बर-परम्परा के साधु मथुरा वालों को अपनी परम्परा का नहीं मान्य

करते थे; किन्तु इसी समय से मथुरा का जैनसंघ द्रुतगति से ह्रास को प्राप्त होने लगा और विस्तार वांचना के निबद्ध होने के समय तक तो वह मात्र एक ऐतिहासिक घटना बन कर रह गया। अतएव उसमें मथुरा में प्रचलित कतिपय गण-शाखा-कुलादि को भी सम्मिलित कर लिया गया और उनका सम्बन्ध उस काल में मान्य श्वेताम्बर-परम्परा के प्राचीन थेरों के साथ जोड़ दिया गया। दक्षिणापथ के दिगम्बरों ने भी भगवान् महावीर के उपरान्त की गुरु-परम्परा को सुरक्षित तो रक्खा; किन्तु उसे भद्रबाहु श्रुतिकेवलि के साथ दक्षिण में आने वाले अपनी परम्परा के गुरुओं तक ही सीमित रक्खा, उसमें उन्होंने मथुरा आदि अन्य केन्द्रों के जैनसाधु संघों की, जो भले ही श्वेताम्बर-परम्परा से भिन्न ही रहे, अनुश्रुतियों को अपनी परम्परा अनुश्रुतियों में समाविष्ट नहीं किया। एक कारण यह भी रहा हो सकता है कि गुजरात के श्वेताम्बर साधु, जिनका प्रसार उक्त काल में राजस्थान और मध्य भारत में भी था, दक्षिणापथ के दिगम्बरों की अपेक्षा मथुरा के अधिक निकट भी थे। जो भी हो जहाँ मथुरा के इन शिलालेखों से तत्सम्बन्धी श्वेताम्बर अनुश्रुतियों की आंशिक प्रामाणिकता एवं प्राचीनता का समर्थन होता है वहाँ वे श्वेताम्बर अनुश्रुतियाँ शुंग-शक-कुषाण कालीन मथुरा के जैन संघ को श्वेताम्बर परम्परा का अनुयायी या अनुसर्त्ता सिद्ध करने में असमर्थ ही रहती है।

एक बात और ध्यातव्य है कि ईस्वी सन् के प्रथम सहस्राब्द में जो संघ-गण-गच्छादि वास्तव में विद्यमान रहे उनमें से अधिकांश के नाम देश, प्रदेश या स्थान सूचक ही थे, यथा दिगम्बर-परम्परा के पुन्नाटसंघ, कोलातूर संघ, नविलूर संघ, कानूरगण, तगरिलगच्छ, पंचस्तूपान्वय, चित्रकूटान्वय, हनसोगे शाखा, देसीगण, गौड संघ, काष्ठा संघ, लाट-वागड़ संघ, माथुर संघ, इत्यादि। स्वामी वीरसेन प्रभृति आगमिक टीकाकारों ने 'दक्षिण प्रतिपत्ति' से भिन्न जिस 'उत्तरप्रतिपत्ति' का उल्लेख किया है उससे मथुरा आदि के उत्तरापथवासी आचार्यों के मत से ही अभिप्राय रहा प्रतीत होता है। उस काल की श्वेताम्बर परम्परा में भी कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति थी– जिनागम विषमपदपर्याय नामक एक प्राचीन श्वेताम्बर ग्रन्थ में निशीथ सूत्र के विषम पद पर्याय के अन्तर्गत "लाडाचार्याभिप्रायात्, माधुराचार्याभिप्रायेण परओरईए चिन्ताऽस्माकम्"[1] वाक्य में लाट देश के आचार्यों और माथुराचार्य अथवा मथुरा के जैनाचार्यों का स्पष्ट उल्लेख है। स्पष्ट है कि दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में मथुरा

के संघ के आचार्यों को उक्त नगर के नाम से ही प्रायः जानते और मानते थे।

अस्तु, जैसा कि ऊपर कह आये हैं, मथुरा के जैन साधु तो 9वीं-1.वीं शती ई. पर्यन्त भी दिगम्बर-श्वेताम्बर भेदभाव की दल-दल से पृथक् ही रहे। मथुरा तो दोनों ही सम्प्रदायों की सम्भवतया यापनीय, अर्द्धफालक, कूर्चक आदि अन्य जैन सम्प्रदायों की भी, मिलन स्थली ही बनी रही, उसके अनेक आचार्य दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं में प्रतिष्ठा प्राप्त रहे प्रतीत होते हैं और यद्यपि मथुरा वालों ने अपने संगठन का अपने निजी एवं स्वतन्त्र गण-शाखा-कुलों में विकास किया, जो उत्तरवर्ती शताब्दियों में भी उन्हीं के अपने मथुरा संघ तक ही सीमित रहे- अन्यत्र कहीं उनकी विद्यमानता के प्रमाण उपलब्ध नहीं होते, तथापि वे उभय सम्प्रदायों के समन्वय का भी प्रयत्न करते रहे, लगते हैं। किन्तु दोनों में से किसी एक के साथ भी उन्होंने अपने आपको सम्बद्ध नहीं किया।[2] मथुरा के जैनसाधु तो स्वयं को मात्र निर्ग्रन्थ श्रमण कहते थे। वे नग्न, वीतराग जिन मूर्तियों की ही उपासना करते थे। उनमें अधिकांश पुरुष साधु अचेलक या नग्न वेश में ही रहते थे। कभी-कभी कोई-कोई खण्ड वस्त्रधारी 'अर्द्धफालक' के रूप में भी विचरते थे, मथुरा की प्राचीन जैनकला में जिन प्रतिमाएँ तो पद्मासन, खड्गासन, सर्वतोभद्रिका सभी सर्वथा दिगम्बर है ही, पीछी कमण्डलुधारी दिगम्बर मुनियों के मूर्ताङ्कन मिले हैं उनके भी शरीर सर्वथा नग्न है; किन्तु दो छोटे-छोटे खण्डवस्त्र, उनके दोनों हाथों में पाये जाते हैं, जिनमें से एक को भुजा उठा कर कन्धे के ऊपर डालते दिखाई पड़ते है और दूसरे हाथ के वस्त्र से सामने की ओर अपना नग्नत्व किंचित् छिपाते हुए दीख पड़ते हैं। मथुरा में विचरने वाले तत्कालीन जैन साधुओं के स्वयं मथुरा महानगरी में तथा प्राचीन मध्य देश (प्रायः वर्तमान उत्तर प्रदेश) के कोल (वर्तमान अलीगढ़), वारण (मध्यकालीन वरन, वर्तमान बुलन्दशहर), उच्चैनगर (वरन का ही एक उपनगर), संकिषा (जिला फर्रुखाबाद), माध्यमिका (चित्तौड़ के निकट नगरी), अहिच्छत्रा (जिला बरेली), हस्तिनापुर (जिला मेरठ), श्रावस्ती (जिला बहराइच), इन्द्रपुर (जिला बुलन्दशहर), श्वेतिका (खुखुन्दो, जिला गोरखपुर), कोशाम्बी (जिला इलाहाबाद), वज्रनगरी, पंचनगरी आदि स्थानों में बड़े-बड़े संस्थान थे। पूर्व में वाराणसी, बिहार, बंगाल और कलिंग तक के, उत्तर-पश्चिम में पंजाब, कश्मीर एवं सीमाप्रान्त के दक्षिण

पश्चिम में गुजरात के और दक्षिण में दक्षिणापथ के जैनसाधुओं से उनके अल्पाधिक सम्पर्क थे। मध्यप्रदेश के तो प्रायः सभी साधुओं का मथुरा में आना-जाना होता रहता था। निश्चय ही शुंगकाल से लेकर गुप्तकाल पर्यन्त की सात-आठ शताब्दियों में मथुरा नगर उनका प्रधान एवं सर्वमहान केन्द्र था। बौद्ध, भागवत और शैवधर्मों का भी यह नगर प्रमुख केन्द्र था और ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों में तो यह महानगरी विश्वनगरी बन गई थी– विभिन्न देशी-विदेशी जातियों, धर्मों और संस्कृतियों की सुखद मिलनस्थली थी। ज्ञान-विज्ञान, कला और साहित्य, उद्योग और व्यापार का यहाँ अनुपम विकास हो रहा था। उस काल में मथुरा के जैन साधुओं का संगठन ही नहीं, जैन साध्वियों का संघ भी अत्यन्त सुगठित एवं सप्राण था। मथुरा के जैन साधु एवं साध्वियाँ देशी-विदेशी, ऊँच-नीच, सवर्ण-शूद्र, स्त्री-पुरुष, जाति-पाँत आदि भेद-भावों की संकीर्णता से बहुत ऊपर थे। शास्त्र लेखन, साहित्य-सृजन और लेखनकला के प्रचार के भारी समर्थक थे। भारतीय साधु समाज के इतिहास में सम्भवतया मथुरा के जैन साधु-साध्वियों ने ही सर्वप्रथम शिलालेख-मूर्ति-लेखादि लिखने-लिखाने प्रारम्भ किये। ज्ञानकी प्रतीक पुस्तकधारिणी सरस्वती को उन्होंने अपने इस क्रान्तिकारी आन्दोलन की अधिष्ठात्री बनाया। उन्होंने स्थापत्य एवं मूर्त्तकला के अध्यात्मप्रेरक एवं लोकरंजक दोनों ही रूपों को अपूर्व प्रोत्साहनदिया और अपना मूल मन्त्र 'सर्वसत्त्वानां हितसुखाय' उद्घोषित करते हुए उन्होंने गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के मोहाच्छन्न जीवन में भी धर्म की अद्भुत ज्योति जगा दी।

सन्दर्भ

1. देखिए, 'जैना सोर्सेज आव दी हिस्ट्री आव ऐंश्येण्ट इण्डिया', पृ. 100-119.
2. देखिए, दर्शनसार, भावसंग्रह, भद्रबाहुचरित आदि में निबद्ध दिगम्बर-परम्परा की तत्सम्बन्धी अनुश्रुति।
3. तपागच्छ पट्टावलि, विशेषावश्यक भाष्य आदि में निबद्ध श्वेताम्बर-परम्परा की अनुश्रुति।
4. देखिए, मुनि हजारीमल स्मृतिग्रन्थ, पृ. 716
5. देखिए, जैना सोर्सेज आव दी हिस्ट्री आव ऐंश्येण्ट इण्डिया, पृ. 107-108.

●

जैन कला एवं हमारा दायित्व

डॉ. कमलेशकुमार जैन*

'कला' शब्द अत्यन्त व्यापक और अनेक अर्थों को व्यक्त करने वाला है, किन्तु प्रसङ्गानुसार तत् तत् स्थलों पर वह अपने एक स्वतन्त्र अर्थ की भी अभिव्यक्ति करता है। यहाँ कला शब्द का प्रयोग शिल्पकला अथवा मूर्तिकला के सन्दर्भ में प्रयुक्त किया जा रहा है। उसमें भी जैन शिल्प या मूर्तिकला यहाँ विशेष रूप से अभीष्ट है।

जैन संस्कृति के विविध आयामों में मूर्तिकला का विशेष स्थान है। भारत के सभी प्रमुख स्थलों में उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक इसके अवशेष आज भी यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, जिनका अभी तक समग्र रूप से न तो सर्वेक्षण हो सका है और न ही विधिवत् उसके संरक्षण की पूर्ण व्यवस्था की गई है, यह चिन्तनीय है।

सरकारी संग्रहालयों की जो वर्तमान स्थिति है उसे देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि स्थिति सन्तोषजनक है। क्योंकि विविध साधनों के अभाव में आज भी अनेक जैन मूर्तियाँ उपेक्षा की शिकार हैं।

यद्यपि स्वतन्त्र भारत में पुरातत्त्वीय महत्त्व के कतिपय साक्ष्यों को संकलित करके उनकी व्यवस्था की जा रही है तथापि अभी भी बहुत कुछ करना शेष है।

जैन कला विषयक इस पुरातात्त्विक सम्पदा का संरक्षण न हो पाने का एक कारण यह भी है कि सम्पूर्ण भारत में अनेक श्रद्धालुओं द्वारा पुरातत्त्व की साक्ष्यभूत प्रतिमाओं, मूर्तियों का प्रक्षालन या अभिषेक आज भी पूर्ववत् चल रहा है, जिससे मूर्तिलेखों का घिसाव और मूर्तियों के

*. वरिष्ठ प्राध्यापक, जैन दर्शन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी.

क्षरण की समस्या निरन्तर बढ़ती जा रही है, जो पुरातत्त्व-संरक्षण की दृष्टि से उचित नहीं है। ऐसी पुरातात्त्विक महत्त्व की मूर्तियों का प्रक्षालन, अभिषेक अथवा स्पर्श आदि तत्काल बन्द कर देना चाहिये तथा उन मूर्तियों के दूर से ही दर्शन करने पर जोर देना चाहिये।

जो भक्त प्रक्षालन या अभिषेक आदि में विशेष रुचि रखते हैं उन्हें नवीन स्थापित मूर्तियों का ही प्रक्षालनादि करना चाहिये। जैसे श्रीमहावीर जी में भगवान् महावीर स्वामी की मूल प्रतिमा को पीछे की ओर संरक्षित किया गया है और नवीन प्रतिमा को आगे रखकर उसका ही प्रक्षालन या अभिषेक आदि किया जा रहा है। यह पुरातत्त्व-संरक्षण की दृष्टि से अत्यावश्यक भी है।

वर्तमान प्रसङ्ग में मथुरा के कंकाली टीला की खुदाई में प्राप्त मूर्तियाँ अथवा स्तूप निश्चित ही जैन स्तूप हैं। क्योंकि मथुरा और उसके आसपास जैन संस्कृति का व्यापक प्रभाव काफी प्राचीन है। मथुरा में यद्यपि बौद्ध संस्कृति का भी प्रभाव है, किन्तु ये स्तूप बौद्ध स्तूप नहीं हो सकते। क्योंकि स्तूपों के साथ जैन तीर्थंकरों की मूर्तियों का प्राप्त होना यह इङ्गित करता है कि स्तूप भी जैन ही हैं। माथुरी वाचना आदि से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ जैन संस्कृति का व्यापक प्रभाव था। साथ ही शूरसेन से सम्बन्ध रखने वाली शौरसेनी प्राकृत भाषा का उद्भव-स्थल भी यही मथुरा और उसके आस-पास की व्रजभूमि है। प्रायः सभी जानते हैं कि जैनधर्म के मौलिक ग्रन्थ प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं और प्राचीन शिलालेखों की भाषा भी प्रायः प्राकृत अथवा मिश्रित भाषा है।

मूर्तिलेख अथवा मूर्ति की बनावट आदि के आधार पर मूर्तियों की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता का ज्ञान इतिहासवेत्ता करते हैं, तदनुसार कंकाली टीला से प्राप्त मूर्तियों का काल विद्वानों ने ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के आस-पास निर्धारित किया है। इससे तत्कालीन शूरसेन प्रदेश और मथुरा के समीपवर्ती क्षेत्रों में इससे पूर्व भी जैन संस्कृति व्यापक रूप से फल-फूल रही थी, इसकी स्पष्ट जानकारी प्राप्त होती है।

इस कथन के पश्चात् यहाँ जैन संस्कृति के कतिपय भावात्मक प्रतीकों का संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत है–

जैन मन्दिरों में कला के दर्शन दो प्रकार से होते हैं- एक मन्दिर के बाह्य भाग से और दूसरे मन्दिर के आन्तरिक भाग से, जिसे हम गर्भगृह अथवा परिक्रमा का आधारभूत मण्डप भी कह सकते हैं। बाह्य में जहाँ हमें सांसारिक भोगों का दर्शन होता है अर्थात् मन्दिर के बाह्य परिकर में कतिपय स्थलों पर भोग प्रधान संस्कृति के दर्शन होते हैं, वहीं अन्दर के मूर्ति शिल्पाङ्कन में हमें वीतरागता के दर्शन होते हैं। इसका एक स्पष्ट सङ्केत यह है कि हम संसार में रहते हैं, लोक में रहते हैं तो संसार को एकाएक छोड़ा नहीं जा सकता है। अपितु उसे क्रम से ही छोड़ा जा सकता है। दूसरी बात यह कि बाह्य हमारा कैसा भी हो, किन्तु हमारी आन्तरिक शुद्धि में, मन में कहीं किसी प्रकार की खोट नहीं हैं। खजुराहो स्थित जैन मन्दिरों के बाह्य और आन्तरिक परिकर के शिल्पांकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

जैनकला अथवा जैन मन्दिरों की कला का एक अनूठा उदाहरण यह भी है कि वहाँ अनेकता में एकता के दर्शन भी होते हैं। एक ही जैन मन्दिर अथवा एक ही परिकर में विविध धर्मों के देवी-देवताओं की मूर्तियों का अङ्कन हमारी धार्मिक एकता का प्रतीक है और समस्त जनसमुदाय को यह सन्देश देते हैं कि हममें परस्पर मतभेद तो हो सकते हैं, किन्तु मनभेद नहीं हैं। साथ ही जैनदर्शन के अनेकान्तवाद सिद्धान्त का मौन होते हुये भी मुखरित प्रतिपादन करते हैं। इसके उदाहरण मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त अवशेषों में देखे जा सकते हैं।

जैन संस्कृति का मूलाधार अहिंसा है यह बात जैन मूर्तियों के अंकन में स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसके प्रमाण स्वरूप हम भगवान् बाहुबली एवं चक्रवर्ती भरत के अहिंसात्मक युद्धों के उस अङ्कन को देख सकते हैं जहाँ उन दोनों सहोदरों में मल्लयुद्ध, जलयुद्ध और दृष्टियुद्ध को दर्शाया गया है। सम्पूर्ण विश्व के इतिहास में निःशस्त्रीकरण की विचारधारा का शिल्पकला के माध्यम से सम्भवतः यह प्रथम प्रयोग और प्रथम उपदेश है।

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि अहिंसा जैनधर्म का प्राण है, अतः उस अहिंसा धर्म की रक्षा के लिये ही जैनधर्म एवं संस्कृति के सम्पूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, जिनकी झलक मूर्ति अङ्कन में भी दिखलाई देती है।

जब भरत एवं बाहुबली जैसे तद्भव मोक्षगामी महापुरुषों के मध्य युद्ध हो तो उनका आपस में तो कुछ बिगाड़ होना नहीं है। हाँ! विनाश होगा तो जनसामान्य का अथवा सेना का। ऐसी स्थिति में सेनाओं को मध्य में न लाकर दोनों भ्राताओं द्वारा परस्पर में युद्ध करने सम्बन्धी मूर्ति अङ्कन से हमें यह शिक्षा मिलती है कि चाहे हमारी युद्ध नीति हो अथवा कषायों की पुष्टि का प्रसङ्ग हो, किन्तु उसमें भी हमारी अहिंसात्मक दृष्टि बनी रहनी चाहिये।

जैन मूर्तिकला हमारे अतीत के वैभव को प्रकट करती है और बतलाती है कि हमारी कला सत्यं शिवं एवं सन्दरम् पर आधारित है। क्योंकि अहिंसा का सन्देश ही सत्य है और वह अहिंसात्मक प्रवृत्ति न केवल अपने लिये अपितु जन-जन के लिये शिव रूप अर्थात् कल्याणकारी है। साथ ही अहिंसामय और स्वपर कल्याणकारी दृष्टि ही वस्तुतः सुन्दरम् अर्थात् श्रेष्ठ हो सकती है, अन्य नहीं।

जैन कला के इन शिल्पाङ्कनों से जैनधर्म के मूलभूत लक्ष्य कि- 'अन्त में मुक्ति को प्राप्त करना' की भी पूर्ति लक्षित होती है। जैनधर्म का सर्वमान्य सिद्धान्त है- **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र- ये तीनों मिलकर मोक्ष के कारण हैं।

इसे हम अहिंसा के धरातल पर इस प्रकार व्याख्यायित कर सकते हैं कि अहिंसा में हमारी श्रद्धा हो, वही अहिंसा हमारे ज्ञान में निरन्तर प्रवाहित हो और उसी अहिंसामय जीवन शैली में हम जियें। अर्थात् उस अहिंसा को हम अपने जीवन में उतारकर आत्मकल्याण करें- यही जैनकला का मूक, किन्तु अत्यन्त मुखर सन्देश है।

कंकाली टीला अथवा मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त मूर्तियों की योगमुद्रा हमारे उस लक्ष्य की ओर हमें इङ्गित करती है कि हमारा अन्तिम साध्य मोक्ष है और उसकी प्राप्ति के लिये योग अथवा ध्यान को अपनाना आवश्यक है, क्योंकि योग अथवा ध्यान के बिना मन की एकाग्रता सम्भव नहीं है। अतः इस माध्यम से ही हम जैन संस्कृति के चरम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते हैं तथा भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधिभूत उस संस्कृति को अपना सकते हैं, जिसे **महाकवि**

कालिदास ने अपने रघुवंश में 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' के रूप में उल्लिखित किया है।

ऐसे महान् कल्याणकारी एवं मोक्षमार्ग में कारणभूत अपने उन जीवन्त प्रतीकों की रक्षा करना हमारा न केवल सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक कर्तव्य है, अपितु हमारा नैतिक दायित्व भी है कि हम अपने पूर्वजों की इस धरोहर को सुरक्षित रखें, जिससे आने वाली अनेक पीढ़ियों को इन प्रतीकों के माध्यम से एक कल्याणकारी सन्देश मिल सके, एक नई रोशनी मिल सके।

कलाकार मूर्तिकार का एक धर्म होता है कि वह जो भी कहेगा शब्दातीत होगा। वह शब्दों के माध्यम से कुछ भी नहीं कहेगा। वह जो भी कहेगा कला के माध्यम से कहेगा, प्रतीकों के माध्यम से कहेगा और यह बात मूर्ति अथवा मूर्ति के परिकर अथवा उसके आसपास के वातावरण से स्पष्ट हो जाती है। मूर्ति जो भी कहेगी प्रतीकों के माध्यम से कहेगी। रोना, हँसना, खेलना या उदासीनता आदि का अङ्कन वैसी-वैसी आकृतियों, भाव-भङ्गिमाओं से मूर्तिकार साकार करेगा। उन भावों को प्रकट करने के लिये मूर्तिकार की छेनी ही बोलेगी, शब्दों का प्रयोग मूर्तिकार के लिये वर्जित है। और यह बात वीतरागता आदि भावों के अङ्कन में जैन मूर्तियों में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है, जिसका एक बिन्दु मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त विविध तीर्थङ्कर मूर्तियाँ भी हैं।

आज सम्पूर्ण मानव समाज के सामने अपने इन पुरातात्त्विक साक्ष्यों को सुरक्षित रखने की चुनौती है। अतः इनकी सुरक्षा के लिये किन-किन उपायों को अपनाया जा सकता है, उन्हीं चिन्तन-बिन्दुओं के सन्दर्भ में अग्राङ्कित सुझाव ध्यातव्य हैं–

1. सर्वप्रथम मूर्तिचोरों से मूर्तियों की सुरक्षा करना आवश्यक है, अन्यथा अवशिष्ट सम्पूर्ण पुरातात्त्विक सामग्री विदेशों में पहुँच जायेगी, जो हमारी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल होगी और हम अपने पूर्वजों की अयोग्य सन्तान कहलायेंगे।

2. मूर्तिभञ्जकों से हमें सावधान रहना होगा।

3. प्राचीन प्रस्तर एवं धातु मूर्तियों को क्षरण से बचाने के लिये समय-समय पर रासायनिक उपचार किये जायें।

3. यत्र-तत्र बिखरी पुरातात्त्विक महत्त्वपूर्ण सामग्री का सर्वेक्षण कर संग्रह किया जाये और उसे लोगों के स्पर्श से बचाया जाय। पारदर्शी शीशे लगाकर के भी उनकी सुरक्षा की जा सकती है।

5. प्राप्त अवशेषों का इतिहास लिखा जाये, जिसमें उसकी प्राप्ति के आधार को स्पष्ट किया जाये, जिससे दूसरे परवर्ती विद्वान् उनका पुर्नमूल्याङ्कन कर सकें।

●

जैन तीर्थों और मन्दिरों का संरक्षण कैसे

डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी*

विश्व में भारत की यशोपताका फैलाने और भारत के सम्पूर्ण सांस्कृतिक वैभव के विकास में श्रमण संस्कृति और कला का अनुपम योगदान है। हमारे देश की और विरासत की अमूल्य धरोहर स्वरूप हमारे पवित्र तीर्थ, धर्मायतन एवं श्रमणसंघ मात्र पूजा और दर्शन के ही केन्द्र नहीं हैं, अपितु उत्कृष्ट स्थापत्य एवं मूर्तिकला, इतिहास, संस्कृति, साहित्य निर्माण एवं संयम साधना के भी केन्द्र हैं। हमें यहाँ विभिन्न ज्ञान-विज्ञान तथा जीवन जीने की आदर्श-शैली एवं नैतिक मूल्य सीखने की भी शिक्षा मिलती है। अतः इनके संरक्षण और संवर्द्धन हेतु सतत जागरूकता अति आवश्यक है।

हमारे ये पावन तीर्थ व तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाण- इन पाँच कल्याणकों से पवित्र अथवा तीर्थंकरों के समवशरण-स्थल, विहार-भूमि या किसी अतिशय घटना विशेष पर आधारित हैं। इन सभी तीर्थों और धर्मायतनों आदि के संचालन, संरक्षण, संवर्द्धन एवं रख-रखाव हेतु जैन समाज द्वारा जो व्यवस्था पद्धति सदा से लागू रही है, वही लोकतन्त्रात्मक पद्धति हमारे देश के संविधान की आदर्श पद्धति बनी।

सम्पूर्ण देश की जैन समाज भावनात्मक रूप में एकता का अनुभव करता हुआ, किसी राज्याश्रय या अन्य सरकारी सहयोग के बिना देश की इस अमूल्य सांस्कृतिक धरोहर और विरासत का संरक्षण प्राणप्रण से करती चली आ रही है। इसीलिये जहाँ जैन समाज ने अनेक प्राचीन

---

*. रीडर एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, आवासीय पता- अनेकान्त भवनम्, बी 23/45-पी 6, शारदानगर कालोनी, नवाबगंज मार्ग, वाराणसी- 221010

तीर्थों, मन्दिरों कलाकृतियों, शिलालेखों, मूर्तियों, दुर्लभ एवं हस्तलिखित प्राचीन शास्त्रों की पाण्डुलिपियों आदि का अच्छा संरक्षण और संवर्द्धन ही नहीं किया अपितु सहस्रों नये मन्दिरों, अनेक तीर्थों का नव-निर्माण करके भारतीय कला-संस्कृति के विकास में तथा इसकी यशपताका पूरे विश्व में फैलाने में सर्वाधिक योगदान भी किया है। सरकारी सहायता के बिना ही सम्पूर्ण जैन समाज ने उदारता से अपना सर्वस्व न्योछावर स्वरूप इस योगदान को कैसे भुलाया जा सकता है फिर भी आज भी सहस्रों उपेक्षित अविकसित प्राचीन मन्दिर और तीर्थ अपने जीर्णोद्धार और विकास की एक किरण पाने हेतु हमारी ओर आशा के साथ निहार रहे हैं। अतः इनके विकास की चिन्ता हेतु हमें जागरूक होने की आवश्यकता है।

आज हम सभी का यह भी परम कर्त्तव्य है कि इन सबके संवर्द्धन के साथ-साथ इनकी सुरक्षा की ओर भी ध्यान देना और इन्हें अराजक तत्त्वों की कुदृष्टि से बचाना भी आवश्यक हो गया है। यदि थोड़ी और निरन्तर सावधानी रखी जाय तो ये सब कार्य बहुत कठिन नहीं हैं। इसके लिए केन्द्र तथा राज्य सरकार के द्वारा निर्मित प्रावधानों और धर्मायतनों से सम्बद्ध कमेटियों आदि के प्रबन्धों के सम्बन्ध में जानकारी और उनका मूल्यांकन करना भी आज आवश्यक है, क्योंकि हमारे परम श्रद्धालु पूर्वजों द्वारा निर्मित एवं संरक्षित इस बहुमूल्य धरोहर और वैभव को जानना, उस पर गौरव करना तथा उसे बचाये रखना भावी-पीढ़ी और उसकी सन्तति परम्परा का पुण्य, अपरिहार ऋण, दायित्वपूर्ण कर्त्तव्य और उसका अधिकार है।

हमारे इन पवित्र प्राचीन तीर्थों और अन्य धर्मायतनों के संरक्षण और विकास हेतु वर्तमान में मुख्यतः दो व्यवस्थायें हैं– सरकारी स्तर पर और समाज द्वारा गठित तीर्थक्षेत्र आदि कमेटियों के स्तर पर। यद्यपि इन बहुमूल्य धरोहरों के संरक्षण का मुख्यतः दायित्व सम्पूर्ण राष्ट्र और सरकार का उसके गौरव के प्रतीक होने के कारण आवश्यक कर्त्तव्य है किन्तु इनकी व्यवस्था के यथोचित संचालन हेतु इनसे सीधे रूप में जुड़े उस सम्प्रदाय के अनुयायियों का प्रमुख दायित्व है। अतः इनके अच्छे विकास हेतु हमारी समाज द्वारा चुनी गयी व्यवस्था समितियों,

प्रबन्धतन्त्रों, ट्रस्टों और स्थानीय समाज का उत्तरदायित्व इस हेतु सर्वाधिक महत्त्व रखता है। अतः इनमें आपसी सामञ्जस्य का होना भी महत्त्व रखता है।

इन प्राचीन तीर्थों, मन्दिरों, मूर्तियों तथा अन्यान्य पुरावशेषों के संरक्षण हेतु सरकारी स्तर पर पुरातत्त्व विभाग द्वारा किस प्रकार के प्रावधान हैं, इन्हें भी जानना जरूरी है। वे इस प्रकार हैं-

भारतीय संविधान के अनुसार ऐतिहासिक धरोहर, कला एवं पुरातत्त्व समवर्ती सूची (Concurrent List) का विषय है, इसीलिए उसकी सुरक्षा में केन्द्र तथा राज्य सरकारों- दोनों की ही सहभागिता रहती हैं। इस निमित्त कानूनी प्रावधान भी किये गये और अधिनियम भी बने हुए हैं।

1. इनके अन्तर्गत जैन मन्दिर, जैन शिलालेख, प्राचीन ऐतिहासिक स्थल, जैन आचार्यों की छतरियों (समाधि-स्थल) तथा निषद्यिकायें आदि सम्मिलित हैं। अनेक प्राचीन किले आदि भी अपने पूरे परिवेश के साथ संरक्षित घोषित हैं, जिनमें जैन मन्दिर भी विद्यमान हैं। इस बहुमूल्य विपुल धरोहर की सुरक्षा, संरक्षण तथा उचित रख-रखाव के लिए जहाँ प्रायः प्रत्येक प्रान्त (राज्य) के अनुसार अलग-अलग तरह के राज्य अधिनियम (State Acts) है वहीं केन्द्र सरकार के निम्नलिखित रूप में केन्द्रीय अधिनियम (Central Acts) है-

2. प्राचीन स्मारक, पुरातत्त्वीय स्थल और अवशेष अधिनियम 1958 भारतीय निरवात निधि (Indian Treasure Trove) अधिनियम 1878, अधिनियम सं. 6.

3. पुरावशेष तथा बहुमूल्य कलाकृति अधिनियम 1972.

उपर्युक्त अधिनियमों के रहते हुए भी यह तथ्य है कि सांस्कृतिक धरोहर, प्राचीन नवीन मूर्तियों या अन्यान्य कला-सामग्री की रक्षा अथवा संरक्षण केवल कानूनी प्रावधानों से ही सम्भव नहीं है। कानूनी प्रावधान तो मात्र नियन्त्रक का दायित्व-निर्वहन करते हैं, क्योंकि राष्ट्रीय एवं

प्रान्त स्तरों पर कानून तो बने हुए हैं, परन्तु उनके प्रभावी क्रियान्वयन को सरकारी स्तर पर गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया गया। यह भी एक विडम्बना ही है कि स्वतन्त्रता के बाद इन क्षेत्रों के संरक्षण या संवर्धन की जगह दुराग्रहवश सरकारी स्तर पर और हमारे व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण इनकी घोर उपेक्षा हुई। फलस्वरूप बहुमूल्य सहस्रों कलाकृतियाँ तोड़-फोड़ और तस्करी की शिकार हुई और हो रही है। धनान्ध होकर इनका व्यापारीकरण और विनाश किसी भी देश या परम्परा की संस्कृति, साहित्य, धर्म, समाज और सम्पूर्ण विरासत को कमजोर और समाप्त करने के लिए बहुत बड़ा षडयन्त्रपूर्ण कलंक है और ये सब किसी भी राष्ट्र, समाज, संस्कृति और धर्म के अस्तित्व के लिए यह एक बड़ी चिन्ता का विषय है।

सरकारी अधिनियमों में स्पष्टतः उल्लेख है कि किसी स्मारक को संरक्षित घोषित करने में उनके मूल-स्वरूप एवं कलात्मकता की रक्षा करना ही उद्देश्य है। प्रायः यह भ्रम भी बना रहता है कि पुरातत्त्व विभाग की ओर से संरक्षित स्मारक घोषित होते ही स्मारक पर सरकार का स्वामित्व हो जाता है, किन्तु ऐसी स्थिति है नहीं। स्वामित्व किसी भी व्यक्ति समूह या समाज का हो, परन्तु मात्र बिना शासन की अनुमति के उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। प्राचीन एवं कलात्मक वस्तुओं की तस्करी एवं उन्हें देश के बाहर ले जाने की समस्या को दृष्टिगत रखते हुए भारत सरकार ने पुरावशेष व बहुमूल्य कलाकृति अधिनियम 1972 Antiquities and Arts Treasures Act 1972) पारित कराया। इसके अन्तर्गत सौ वर्ष से अधिक पुरानी समस्त मूर्तियों (प्रस्तर एवं धातु), लघु चित्रों तथा सचित्र पाण्डुलिपियों को पंजीकृत (Registered) कराना आवश्यक है, जो किसी भी व्यक्ति या संस्था के निजी स्वामित्व या संग्रह में है।

हमारे देश में सहस्रों जैन मन्दिरों में अनमोल निधिरूप धरोहर विद्यमान है। इन सबका पंजीकरण कराना इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि इस प्रक्रिया में सभी कला-सामग्री का अधिकृत विवरण तथा उसका फोटो डाक्यूमेण्टेशन हो जाता है। तब चोरी आदि किसी अप्रिय घटना के हो जाने पर मूल सामग्री की खोज या पहचान में सरकार की सहभागिता

भी जुड़ जाती है। कानून की मूल भावना को समझना तथा उसका परिपालन करने में सांस्कृतिक धरोहर के स्वामी का तो हित है ही, साथ ही यह देश की विरासत की रक्षा एवं मूल्यांकन में भी सहायक है।

कभी-कभी कला, संस्कृति, शिलालेखों आदि जो भी प्राचीनता के प्रतीक हैं उनका मूल्य न समझकर, उनके जीर्णोद्धार के नाम पर हम उसकी प्राचीनता को समाप्त करते हैं, उसका रूप-परिवर्तन या उसका आधुनिकीकरण कर देते हैं। इतना ही नहीं हम संगमरमर तथा ग्रेनाइट आदि पत्थर जड़वाकर अपने भौतिक वैभव का प्रदर्शन तो कर लेते हैं किन्तु यह नहीं सोचते कि हमारी अज्ञानता से हमारी इस अमूल्य धरोहर की प्राचीनता कितनी समाप्त हो जाती है। हम यह भूल जाते हैं कि उनकी प्राचीनता ही हमारे महान् गौरव का प्रतीक है और बहुमूल्य है। अतः उनके वास्तु एवं शिल्प के मणि-कांचन के अद्भुत योग को विनष्ट करना बहुत बड़ी भूल है। इसीलिए इनका जीर्णोद्धार मूल-स्वरूप को नष्ट किये बिना पुरातत्त्वविदों के सहयोग से वैज्ञानिक विधि द्वारा करना चाहिए; तभी हमारी आस्था एवं संस्कृति के जीवन्त प्रतीक स्वरूप इन पवित्र तीर्थों, मन्दिरों, मूर्तियों आदि की सुरक्षा और सम्बर्द्धन से हम सभी सक्षम हो सकते हैं।

●

कंकाली टीला और महिलाएं

डा॰ नीलम जैन

वर्तमान मथुरा नगर के दक्षिण पश्चिम में स्थित कंकाली टीला (जिसे जैन टीला भी कहते हैं) से प्राप्त अवशेष वहां जैन धर्म की यशोगाथा के प्रत्यक्ष साक्षी हैं, मथुरा से अधावधि उपलब्ध जैन कृतियाँ भारत के धार्मिक एवं कलात्मक इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं, यहां से प्राप्त अवशेषों की विशिष्ट विशेषता यह है कि यहां अनेक अवशेष ऐसे प्राप्त हुए हैं जो तत्कालीन ब्राह्मीलिपि एवं मिश्रित संस्कृत-प्राकृत भाषा में हैं यह स्पष्ट परिलक्षित है कि ऐसी मूर्तियां एवं शिलापट्ट अधिक संख्या में हैं जो यह बताते हैं कि उनके बनवाने एवं प्रतिष्ठित कराने वाली अधिकांश में स्त्रियां अधिक हैं और पुरुष बहुत कम थे स्त्रियां प्राय: गृहस्थ श्राविकाएं थी जो आर्या भिक्षुणियों के उपदेश से विभिन्न धार्मिक कार्यों में प्रवृत्त होती थीं। प्रख्यात पुरातत्त्ववेत्ता स्व॰ श्री कृष्णदत्त बाजपेयी जी ने लिखा है कि मथुरा से प्राप्त अभिलेखों में दो प्रकार की स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं एक तो भिक्षुणियों के जिनके लिए प्राय: आर्या शब्द का प्रयोग मिलता है और दूसरे कुटुम्बिनी स्त्रियाँ (श्राविकाओं) के जो आर्याओं के उपदेश या प्रेरणा से मूर्तियों आदि का निर्माण एवं उनकी प्रतिष्ठापना कराती थीं।

अवशेषों में दान दानियों के नामों के साथ-साथ उन उपदेशिकाओं के नाम मिलते हैं जिनकी प्रेरणा से ये दान दिये जाते थे। साथ ही सम्बंधित गण, कुल तथा शाखा आदि के नाम भी इन अभिलेखों में मिलते है, मथुरा से प्राप्त तीर्थंकर प्रतिमाओं की चरण चौकी पर प्राय: हाथ जोड़े या पूजा-सामग्री लिए अनेक स्त्रियों के चित्रण मिलते हैं कहीं-कहीं मध्य में स्थित धर्मचक्र के एक ओर पंक्ति में खड़े पुरूष और दूसरी पंक्ति में खड़ी हुई स्त्रियां मिलती हैं इन मूतियों से उनकी वेशभूषा का पता चलता है। हम इन उदारमना महिलाओं में से कुछ की

चर्चा करते हैं जिनके नाम सौभाग्य से मथुरा के शिलालेख पर बच गए हैं ये शिलालेख इन महिलाओं के द्वारा बनवाए हुए अपने अपने आयाग पट्टों, विविध-स्तम्भों, तोरणों एवं प्रतिमाओं की चरण चौकियों पर उत्कीर्ण कराये गए हैं, ये अवशेष इस समय अधिकांश में लखनऊ तथा मथुरा के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।

अचला - यह भद्रयशा की वधू तथा भद्रिनन्दि की भार्या थी। इसने अर्हत् पूजा के लिए एक विशाल आयाग पट्ट का निमार्ण कराया, जिसके बीच में चारों ओर नन्दिपटट्टों से अवेष्टित ध्यान मुद्रा में जिन प्रतिमा और चारों किनारों पर विविध प्रशस्त चिन्ह उत्कीर्ण कराये।

अमोहिनी - हारीति पुत्र पाल की पत्नी कौतन गोत्र वाली, श्रमणी की श्राविका अमोहिनी ने राजा शोड़ास (सुदास) के राज्यकाल (ई०पू० प्रथम शताब्दी) में आर्यवती का चौकोट शिलापट्ट प्रतिष्ठापित किया।

आर्यजया - कुषाण सम्राट कनिष्क के राज्यकाल में सं. 7 (85 ई०) में आर्यवृद्धि श्री के शिष्य वाचक आर्य सन्धि की भगिनी आर्यजया ने तीर्थंकर प्रतिमा का निर्माण कराया।

आंखरिका - सं. 84 (162 ई०) में दमित्र और दत्ता की पुत्री कुटिम्बनी ओखरिका ने कोट्टिगया के सत्यानेन - तथा धरबुद्धि की प्रेरणा से वर्धमान प्रतिमा का दान किया।

कुमारमित्रा - सं 15 (93 ई०) में श्रेणी (से०) वणिक की पत्नी, भट्टिसेन की माता कुमार मित्रा ने आर्या वसुला के उपदेश से सर्वतोभद्रिका प्रतिमा की स्थापना की। यह वसुला आर्या संगमिका (आर्य जयभूति की शिष्या) की शिष्या थी।

कौशिकी - यह सिंहक नामक वणिक की पत्नी थी। इसके पुत्र सिंह नादिक ने अर्हत् पूजा के लिए एक अत्यन्त

सुन्दर आयाग पट्ट की स्थापना की। जो बनावट में अचला के आयाग पट्ट (सं. 1) से बहुत कुछ मिलता जुलता है परन्तु उसकी अपेक्षा अधिक कलापूर्ण एवं भव्य है।

खुड़ा (कडा) - कनिष्क के राज्यकाल में सं. 5 (83 ई०) में देवपाल श्रेणी की पुत्री तथा सेन श्रेणी के स्त्री खुड़ा ने वर्धमान प्रतिमा का दान किया।

गुल्हा (गूढ़) - यह बर्मा की पुत्री तथा जयदास की पत्नी थी। इसने आर्य ज्येष्ठ हस्ति की शिष्या आर्या शामा (श्यामा) की प्रेरणा से भगवान ऋषभदेव की प्रतिमा का दान किया।

गृहरक्षिता - कनिष्क के वर्ष 17 (95 ई०) में जिन प्रतिमा का दान किया।

गृह श्री - सं. 31 (109 ई०) में बुद्धि की पुत्री तथा देविल की पत्नी गृह श्री ने आर्य गोदान की प्रेरणा से जिन प्रतिमा प्रतिष्ठापित की।

जयदेवी - सं. 82 (160 ई०) में वर्धमान प्रतिमा का दान किया।

जया - यह नवहस्ति की पुत्री ग्रहसेन की वधू तथा शिवसेन, देवसेन और शिवसेन की माता थी। इसने एक विशाल वर्धमान प्रतिमा की स्थापना कराई।

जितमिगा - यह ऋतुनन्दी की पुत्री तथा गंधिक बुद्धि की धर्मपत्नी थी इसने आर्य नन्दिक की प्रेरणा से सं 32 (110 ई०) में एक सवेतो भद्रिका प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की।

जिनदासी - महाराज वसुदेव के राज्यकाल में सं 83 (161 ई०) सेन की पुत्री, दत्त की वधू तथा एक गंधिक की स्त्री जिनदासी ने तीर्थंकर प्रतिमा का दान किया।

जीवनन्दा - जिन प्रतिमा का दान किया।

दिना - इस श्राविका के पति का नाम मतिल, पुत्रो के नाम जयपाल, देवदास, नागदत्त और पुत्री का नाम नागदत्ता मिलता है। सं. 20 (98 ई०) में दिना ने आर्य संघ सिंह के आदेश से एक विशाल वर्धमान प्रतिमा की स्थापना की। दिना नाम की अन्य महिलाएं और मिलती है जिन्होने क्रमशः ऋषभदेव एवं मुनिसुव्रत नाथ की प्रतिमा का दान किया।

धर्मघोषा - भंदत जयसेन की अन्तेवासिनी (शिष्या) धमघोषा (धर्मघोषा) ने एक प्रासाद का दान किया।

धर्मसोभा - यह एक सार्थवाह (व्यापारी) की पत्नी थी। लेख में इसे सर्त्त वाहिनी (सार्थवाहिनी) कहा गया है। इस महिला ने वाचक आर्या मातृदत्त की प्रेरणा से सं 22 (100 ई०) में जिन प्रतिमा का दान किया।

पूसा (पुष्या) - मोगली के पुत्र फुफक (पुष्पक) की भार्या पूसा (पुष्या) ने एक आयाग पट्ट का निर्माण कराया।

बलहीस्तनी - श्रमण श्राविका बलहस्तिनी ने एक बड़ा तोरण (9' 2" - 1") प्रतिष्ठापित किया।

बेधिनन्दी - गृहहस्ति की पुत्री बोधिनंदी ने दत्त के शिष्य गहप्रकर्ष के निर्देश से सं. 29 (108 ई०) में भगवान वर्धमान की एक बड़ी प्रतिमा प्रतिष्ठापित की।

मासित्रा - सं 18 (96 ई०) में जय की माता भासिगा ने सर्वतो भद्रिका का दान किया।

मित्र श्री - सं 18 (96 ई०) में अरिष्ट नेमि की प्रतिमा का दान किया।

मिगा - यह मणिकार जयभट्टि की पुत्री थी और लौह वणिज फल्गुदेव को ब्याही थी सं. 20 (98 ई०) में इस महिला ने कोट्टिगण के अन्तर्गत ब्रहमदासिक कुल

एवं उच्चनगरी शाखा के श्री गह संभोग और वृहन्तवाचक गणि के आर्यसिद्ध की प्रेरणा से एक विशाल जिन प्रतिमा का दान किया।

यशा - यह शर्वत्रात की पौत्री तथा बन्धुक की पत्नी थी इसने धन्यपाल की शिष्या धन्यश्रियों के अनुरोध से सं. 48 (126 ई०) में संभवनाथ की प्रतिमा का निर्माण कराया।

रयगिनी - यह जयभट्ट की कुटुम्बिनी थी। सं. 25 (103 ई०) में इसने एक जिन प्रतिमा का दान कराया।

वसु - यह लवण शोभिका नामक गणिका की पुत्री थी। इसके द्वारा बनवाए गए आयाग पट्ट (मथुरा संग्रहालय सं क्यू 2) पर महत्वपूर्ण लेखन उत्कीर्ण है।

विजय श्री - यह राज्य वसु की पत्नी देविल की माता तथा विष्णुभव की दादी थी सं. 50 (128 ई०) में एक मास उपवास करने के बाद इसने वर्धमान प्रतिमा की स्थापना की।

शामाढ्या - यह भट्टिभव की पुत्री तथा प्रातारिक (मल्लाह) गृहमित्रपालित की भार्या थी, इसने दत्तिलाचार्य की प्रेरणा से एक जिन प्रतिमा प्रतिष्ठापित की।

शिवमिगा - कौशिकीशिमिगा (शिवमित्रा) गोतिपुत्र (गौरवीपुत्र) की पत्नी थी। लेख में यह गोतिपुत्र पोठय तथा शक लोगों के संहार करने वाला कहा गया है, शिवमिगा ने एक सुन्दर आयागपट्ट की स्थापना की।

सिंह दत्ता - यह ग्रामिक जयदेव की वधू तथा ग्रामिक जमनाग की कुटुम्बिनी थी इसने अम्मा के उपदेश से एक शिला स्तम्भ और एक सर्वतो भद्रिका प्रतिमा का दान किया।

सोना - वि.सं. 1071 (1128 ई०) में वर्णन उसराक की भार्या सोना ने पार्श्वनाथ प्रतिमा का दान किया।

स्थिरा - इसके द्वारा आर्य श्रेरक के अनुरोध से सर्वतोभद्रिका प्रतिमा स्थापित की गई।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी दानदात्री महिलाएं भी है जिनसे अधिकांश के नाम दुर्भाग्य से अभिलेखों में हट गए है उनके पति पिता पुत्रादि के नामों से जो अभिलेख में सुरक्षित है उनके संबंध में पता चलता है, जैसे देव की पुत्री, धनहरिन्त की पत्नी, धर्मकम की वधू, धर्मवृद्धि की भार्या, पुष्य की वधू तथा पुष्यदत्त की माता, प्रिय की पत्नी, भद्रदत्त की वधू, भवनक की कुटुम्बिनी, लवदाय की भार्या, शिवघोषक की भार्या, सुचिल की धर्मपत्नी आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कंकाली टीले के अन्तरंग से निकले अवशेष यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि जैन धर्म में नारी को धार्मिक कार्यों की पूर्ण स्वतन्त्रता थी वह अपनी इच्छानुसार तप, संयम, व्रत, दान आदि कर सकती थी तथा धार्मिक कार्यो में भाग लेती थी। साधु सन्तों के प्रवचनों उपदेशों को सुनने वैयावृति करने में उसे कोई बाधा न थी। श्राविका धर्म का परिपालन भी करती थी और घर परिवार में समान रूप से सम्मान जनक स्थान रखती थी। श्रमण धर्म में भी अग्रणी थी साध्वी बनकर धर्म की प्रभावना करती थी तथा चतुर्विध संघ में उनकी समान प्रतिष्ठा थी। वे भी जनसाधारण की श्रद्धा का केन्द्र थीं, विदुषी थीं।

संदर्भ -

1. अपिग्राफिया इण्डिका
2. दि जैन स्तूप एण्ड अदर ऐंटिम्वटीज आफ मथुरा विंसरे स्मिथ द्वारा प्रकाशित इलाहाबाद 1901 ई।
3. केटालाग आफ दि मथुरा म्यूजियम - जे. पी. एच. फोगल द्वारा - प्रकाशित इलाहाबाद 1910 ई. जर्नल आफ यू. पी. हिस्टोरिकल सोसायटी, लखनऊ।